Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कक्षा
11

दर्शन शास्त्र

कक्षा 11

दर्शन शास्त्र

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

दर्शन शास्त्र

(कक्षा 11)

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान अजमेर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

पुस्तक – दर्शन शास्त्र

कक्षा–11

संयोजक – डॉ. निर्मल गर्ग
प्राचार्य
राजकीय कन्या महाविद्यालय
खैरवाडा (राज.)

लेखकगण –

1. डॉ. रेखा यादव
व्याख्याता– दर्शनशास्त्र,
सम्राट पृथ्वीराज चौहान
राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

2. डॉ. मणिमाला शर्मा
व्याख्याता– दर्शनशास्त्र,
राज. कन्या महाविद्यालय,
श्रीगंगानगर

3. डॉ. इरफान अहमद
व्याख्याता
राजकीय कला कन्या महाविद्यालय,
कोटा

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

भूमिका

भारतीय वाड्.मय में सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा धार्मिक तत्त्वों के गूढ़तम रहस्य छिपे हुए हैं। हमारे ऋषियों, महर्षियों, आचार्यों की सद्वाणी से आप्लावित यह वाड्.मय भारत की धरोहर के रूप में जाना जाता है। इस साहित्य का लेखन आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया था। संस्कृत भाषा में वेद, आगम, उपनिषद् बाह्मण, अरण्यक आदि साहित्य का लेखन हुआ तथा प्राकृत भाषा में जैनागम, मूलसूत्र, व्याख्या साहित्य, शिलालेख, काव्य, नाटक आदि विधाएँ प्राप्त होती हैं। अतः यह कहना कोई अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का प्रयोग अतिप्राचीन काल से ही हमारे देश में होता रहा है।

भाषा–विकास–काल की दृष्टि से देखें तो विश्व की समस्त भाषाओं के भेदक्रम में भारतीय आर्यभाषा परिवार के अन्तर्गत संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं का अस्तित्त्व है। ईसा की छठी शताब्दी पूर्व से लेकर लगभग दसवीं/बारहवीं शताब्दी तक का समय प्राकृत भाषा एवं साहित्य के लेखन का काल माना जाता है। इस युग में प्राकृत साहित्य विविध विधाओं में लिखा गया। लेकिन इससे पहले से ही वैदिक काल तथा उससे भी पूर्व से लेकर प्राकृत भाषा का प्रयोग निरन्तर बोलचाल के रूप में होता रहा है। इसके प्रमाण हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। ऐसी कोई भी विधा नहीं नहीं होगी, जिसमें प्राकृत साहित्य लिखा नहीं गया हो।

प्रस्तुत पुस्तक राजस्थान शिक्षा मण्डल, अजमेर के प्राकृत भाषा एवं साहित्य के 11 वीं कक्षा के छात्र–छात्राओं के लिए तैयार की गई है, जिसमें उन्हें प्राकृत भाषा, साहित्य, व्याकरण, वाक्य–बोध के प्रति मार्ग–दर्शन दिया गया है तथा स्वयं शिक्षक के रूप में भी यह पुस्तक उन्हें कारगर साबित होगी, हम ऐसी कामना करते हैं। प्राकृत भाषा एवं साहित्य का सामान्य परिचय छात्र–छात्राओं को हो सके, इसी उद्देश्य से यह पुस्तक तैयार की गई है।

– संयोजक एवं लेखकगण

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	अध्याय	पृष्ठ संख्या
	खण्ड (अ)	
1.	नीतिशास्त्र का स्वरूप एवं क्षेत्र (i) परिभाषा (ii) नैतिक प्रत्यय (iii) मूल्य – साधन मूल्य एवं साध्य मूल्य	1 – 9
2.	भारतीय नीतिशास्त्र (i) आश्रम व्यवस्था, ऋण व्यवस्था एवं पुरुषार्थ चतुष्टय (ii) निष्काम कर्म एवं लोक संग्रह (iii) गांधी दर्शन – एकादश व्रत, सर्वोदय	10 – 18
3.	पाश्चात्य नीतिशास्त्र (i) सुकरात – ज्ञान एवं सद्गुण (ii) प्लेटो एवं अरस्तु – मुख्य सद्गुण एवं मध्यम मार्ग (iii) काण्ट – कर्तव्य के लिये कर्तव्य	19 – 26
4.	व्यक्ति और समाज (i) अधिकार एवं कर्तव्य (ii) संकल्प की स्वतन्त्रता एवं नैतिक उत्तरदायित्व (iii) दण्ड के सिद्धान्त	27 – 36
5.	पर्यावरण एवं नैतिकता (i) पर्यावरण की परिभाषा एवं स्वरूप (ii) मनुष्य एवं प्रकृति का सम्बन्ध (iii) व्यक्ति का पर्यावरण के प्रति दायित्व	37 – 44

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

खण्ड (ब)

6.	तर्कशास्त्र का स्वरूप एवं क्षेत्र (i) तर्कशास्त्र की परिभाषा (ii) सत्यता एवं वैधता, भाषा के तीन कार्य (iii) परिभाषा का स्वरूप एवं इसके नियम	45 – 50
7.	पद एवं तर्क वाक्य (i) पद एवं तर्कवाक्यों की परिभाषा एवं वर्गीकरण (ii) पद व्याप्ति, व्याप्त्यर्थ एवं गुणार्थ की परिभाषा (iii) तर्कवाक्यों के बीच सम्बन्ध, प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र, आधारभूत सत्यता सारणियां	51 – 58
8.	विज्ञान एवं प्राक्कल्पना (i) विज्ञान एवं प्राक्कल्पना की परिभाषा (ii) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना का स्वरूप, प्रकार एवं उपयोगिता (iii) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना का मूल्यांकन	59 – 64
9.	मिल की विधियाँ (i) अन्वय एवं व्यतिरेक प्रणाली (ii) अन्वय–व्यतिरेक संयुक्त प्रणाली (iii) अवशेष एवं सहचार प्रणाली	65 – 72
10.	भारतीय तर्कशास्त्र (i) प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण (ii) पंचावयव अनुमान एवं निर्दोष व्याप्ति (iii) शब्द प्रमाण	73 – 79
संदर्भ एवं सहायक ग्रन्थ		80 – 81

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

1

नीतिशास्त्र का स्वरूप एवं क्षेत्र

नीतिशास्त्र, दर्शन शास्त्र की वह शाखा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन से सम्बंधित कुछ मूलभूत समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। सामान्यतः हम दूसरे मनुष्य (व्यक्ति) के चरित्र का, उसके द्वारा किये गए कर्मो का, विशेष परिस्थितियों ये उसके द्वारा क्या किया जाना चाहिये था सभी परिस्थियों में उसे कुछ कर्म अवश्य ही करने चाहिए आदि पर विचार करते है, तो उपरोक्त सभी विचार जीवन के नैतिक क्षेत्र से जुड़े होते है। हम जीवन में 'अच्छा–बुरा', 'शुभ–अशुभ' 'उचित', 'अनुचित' 'कर्त्तव्य' आदि शब्दों का प्रयोग भी नैतिक सन्दर्भ में ही करते है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इन शब्दों के प्रयोग द्वारा हम क्या कहना चाहते हैं। जब हम व्यक्ति के किसी कर्म को उचित अथवा अनुचित ठहराते है तो क्या हमारे पास इस प्रकार के निर्णयो के लिये कुछ तर्कसंगत कारण है? हम अपने इन निर्णयों के पीछे जो भी कारण प्रस्तुत करें तो उन्हें तर्कसंगत क्यों माना जाये?एक सामाजिक प्राणी होने के रूप में जब व्यक्तिगत हित और सामाजिक हितों के बीच संघर्ष पैश हो जाय तो कौनसे उपायों द्वारा उनमें समन्वय स्थापित किया जा सकता है?क्या मनुष्य केवल अपने सुख को प्रमुखता प्रदान करें अथवा दुसरों के सुख अथवा हितों में संतुलन बनाए रखे। इस हेतु क्या उपाय है?

वास्तव में मानव जीवन अपने में एक मूल्य अथवा आदर्श समाहित किये रहता है। यही आदर्श हममें एक नैतिक दृष्टि, नैतिक विश्वास को जन्म देता है। नीतिशास्त्र, हमारे इसी नैतिक विश्वास को बौद्धिक आधार प्रदान करता है। इसीलिये नीतिशास्त्र नैतिकता की मीमांसा है। ऐसा कहा जा सकता है कि जब से मनुष्य ने दूसरों के साथ मिलकर समाज का निर्माण किया, इसी में रहकर अपनी समस्याओं, अपने सुखों एवं उद्देश्यों को, दूसरों की समस्याओं सुखों एवं उद्देश्यों के साथ संगति प्रदान करने हेतु कुछ नियमों की खोज करने लगा ताकि एक सामन्जस्य पूर्ण समाजिक जीवन व्यतीत किया जा सके।

समय के साथ धीरे–धीरे इन्हीं सामाजिक परम्पराओं, रूढियों अथवा रीतिरिवाजों से ही उस शास्त्र या विज्ञान का विकास हुआ, जिसे आज हम नीतिशास्त्र, अथवा 'नैतिक दर्शन' कहते है।

नीतिशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषाः

नीतिशास्त्र का समानार्थक शब्द अंग्रेजी में 'एथिक्स' (Ethic) है, जिसकी व्युत्पति यूनानी भाषा के शब्द 'एथिका (Ethic) से हुई है और इसका अर्थ है– रीति–रिवाज, प्रचलन, आदत। इसी प्रकार 'मोरल' शब्द की व्युत्पति 'मोरेस' (More) से हुई है, जिसका अर्थ भी रीति या आदत से होता है।

इस प्रकार शाब्दिक दृष्टि से नीतिशास्त्र मनुष्यों की आदतों अथवा रीति–रिवाजों का विज्ञान है, जो समाज द्वारा अनुमोदित भी होती है।

कुछ महान नीति शास्त्रियों ने नीति शास्त्र को अपने–अपने दृष्टिकोण से परिभाषित किया हैः–

(i) मैकेन्जी के अनुसार ''नीतिशास्त्र मनुष्यों की आदतों की पृष्ठभूमि में स्थित सिद्धान्तों का विवेचन और उनकी अच्छाई तथा बुराई के कारणों का विश्लेषण करता है।''

(ii) शुक्र नीति के अनुसार ''नीतिशास्त्र सभी शास्त्रों का उपजीव्य और लोक स्थिति का व्यवस्थापक है। इसलिए वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पुरूषार्थो का प्रदाता है।''

(iii) यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने भी नीतिशास्त्र को न्याय का ही विवेचन माना था।

(iv) पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट ने भी नीतिशास्त्र को कर्त्तव्य शास्त्र या धर्मशास्त्र माना है। उनके

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

मत में, मनुष्य मात्र में कर्त्तव्य और नैतिक नियम **के एक से प्रत्यय है।**

(v) मनु के अनुसार–'आचार परमो धर्मः' उनका कहना है कि राग–द्वेष से रहित सज्जन विद्वानों द्वारा जो व्यवहार किया जाता है और अपना दृश्य भी उचित समझता है, वही व्यवहार हमारा धर्म है।

(vi) अरस्तू के अनुसार ''नीतिशास्त्र मानव जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण है वस्तुतः अन्य सभी लक्ष्य उस चरम लक्ष्य के साधन है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर सार रूप में कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र वह आदर्शमूलक विज्ञान है जो सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाले सामान्य मनुष्यों के आचरण या ऐच्छिक (बिना बाध्यता के) कर्मो पर निष्पक्ष एवं व्यवस्थित रूप से विचार करके उनके सम्बंध में उचित, अनुचित अथवा शुभ, अशुभ का निर्णय देने के लिये मापदण्ड प्रस्तुत करता है और इस निर्णय के आधार के लिए कुछ मूल सिद्धान्तों अथवा मानकों या आदर्शो की स्थापना करता है।

नीतिशास्त्र का स्वरूप– नीतिशास्त्र की परिभाषाओं से प्रश्न उठता है कि इसका स्वरूप क्या है? इस विषय में दो विचार धाराऐं प्रचलित हैः–

1. नीतिशास्त्र एक विज्ञान है
2. नीतिशास्त्र एक आदर्श मूलक विज्ञान है।

1. नीतिशास्त्र एक विज्ञान हैः– प्रथम विचारधारा की मान्यता है कि नीतिशास्त्र में विज्ञान की मुख्य विशेषताऐं विद्यमान रहती है। किसी विषय या वस्तु अथवा घटना का यथा सम्भव क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित विवेचन और पूर्णतया निष्पक्ष होकर उससे सम्बंधित सत्य का अनुसंधान करना विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य है। कुछ विद्वानों के मत में ये सभी विशेषताऐं नीतिशास्त्र में भी विद्यमान है। नीतिशास्त्र भी मानव जीवन से सम्बंधित समस्याओं पर निष्पक्ष एवं व्यवस्थित रूप से मानवीय स्वभाव एवं उनकी क्षमताओं के आधार पर स्पष्टीकरण एवं समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। नीतिशास्त्र के बिना पर्याप्त कारण, सुसंगत तर्क एवं निष्पक्ष परीक्षा के किसी भी मूलसिद्धान्त या आदर्शो की स्थापना नही करता। अतः नीति शास्त्र एक विज्ञान है।

2.नीतिशास्त्र एक आदर्श मूलक विज्ञान हैः– दूसरी ओर कुछ विद्वान नीतिशास्त्र को आदर्श मूलक विज्ञान के रूप में स्वीकार करते है। इनकी मान्यता है कि प्राकृतिक विज्ञान केवल तथ्यात्मक वर्णन करते है। जैसे वनस्पति विज्ञान पेड़, पौधो का उसी रूप में वर्णन करते है, जिस रूप में वे पाये जाते है। उसी प्रकार भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, मनोविज्ञान आदि केवल विवरणात्मक विज्ञान है। ये सभी विज्ञान बाध्य विषयों का वस्तुनिष्ठ (वस्तु जैसी है, उसी रूप में) वर्णन करता है न कि उनका मूल्यांकन (उचित–अनुचित का विचार)। नीतिशास्त्र को इस श्रेणी का विज्ञान नहीं कहा जा सकता। वास्तव में नीतिशास्त्र का उद्देश्य, किसी तथ्यात्मक विवरण को प्रस्तुत करना नही है, बल्कि विषयों या वस्तु का मूल्यांकन करना है। जैसे यदि हम किसी के कर्म को उचित कह रहे है तो इसका अभिप्राय यह है कि किसी नियम या आदर्श के मापदण्ड के आधार पर उसके कर्म को उचित सिद्ध किया जा रहा है। अतः नीतिशास्त्र का कार्य केवल उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ का केवल वर्णन करना नही बल्कि मूल्यांकन करना है। जिन नियमों, सिद्धान्तों या आदर्शो के आधार पर हम आचरण को उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ कहते है वे उस मूल्यांकन के मान्यता प्राप्त मापक है। इस प्रकार नीतिशास्त्र विवरणात्मक विज्ञान न होकर आदर्श मूलक विज्ञान है; जिसका उद्देश्य मनुष्य और उसके कर्मों का तथ्यात्मक वर्णन न होकर उनके मूल्यांकन के मापदण्डों की स्थापना करना ही है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि नीतिशास्त्र केवल समाज में रहने वाले मनुष्यों के ऐच्छिक कर्मो (जो उनके द्वारा बिना किसी दबाव के किये गये हो) का ही मूल्यांकन करता है, न कि विक्षिप्त (मानसिक रूप से असामान्य), बहुत छोटे बालकों तथा पशुओं के कर्मो का मूल्यांकन करता है।

3. **नैतिक प्रत्ययः–** ''नीतिशास्त्र व्यवहार की नैतिकता का विज्ञान है। यह कर्मो के उचित–अनुचित का, नैतिक शुभ–अशुभ का, अच्छे–बुरे कर्मो में प्रवृत्त नैतिक कर्त्ताओं की योग्यता–अयोग्यता का, समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकार, कर्त्तव्य और चारित्रिक गुणों का, उनकी स्वाधीनता और उत्तरदायित्व का विवेचन करता है। नैतिक चेतना में सन्निहित इन्ही आधारभूत प्रत्ययों का सम्यक् विवेचन इसका लक्ष्य है।''–जे.एन. सिन्हा

4. **(उचित– अनुचित) (Right, Wrong) –** जब कोई कर्म 'नियमानुसार' होता है, जो उसे 'सत्' कहा जाता है। असत् कर्म वे कर्म होते है जो 'आचार–विषयक–नियम (नैतिक – नियम)' से संगति नही रखते अर्थात नियम – विरूद्ध होता है। नैतिक नियमों का लक्ष्य सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति होता है। सत् (उचित) कर्म नैतिक–नियमों की सिद्धि में सहायक है और इन नैतिक – नियमों द्वारा सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति होती है।
इस प्रकार सत् कर्म (उचित) शुभ की प्राप्ति का एक साधन बन जाता है और असत् – कर्म (अनुचित) अशुभ की प्राप्ति का साधन बन जाता है। अतः शुभ साध्य है और सत् (उचित) साधन।

5. **उचित (Right) और शुभ (Good)–** शुभ पर ही उचित आघृत है। उचित या सत् का प्रयोग साधन के रूप में होता है, किन्तु शुभ का प्रयोग साधन और साध्य दोनों के लिए किया जाता है। जब शुभ किसी लक्ष्य की प्राप्ति का साधन होता है तो इस अर्थ में उसे सत् (उचित) कहा जाता है। अतः जो शुभ है वह सत् (उचित) है और जो उचित है उसे शुभ भी कहा जा सकता है। परन्तु सर्वोच्च शुभ के लिए उचित प्रत्यय का प्रयोग नही होता।
अशुभ–अशुभ वह है, जो लक्ष्य प्राप्ति में सहायक न होकर बाधक हो। शुभ को सामान्य–स्वीकृति प्राप्त होती है परन्तु अशुभ को सामान्यतः तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। दया, क्षमा, प्रेम आदि शुभ माने जाते है क्योंकि इन्हें सामान्य समर्थन प्राप्त है और लोभ, मोह, घृणा आदि अशुभ माने जाते है, क्योंकि इन्हें सामान्यत तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है।

6. **सर्वोच्च शुभ (Highest good)–** जो किसी आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति करे वह शुभ है। स्वास्थ्य, धन, ज्ञान आदि शुभ है। शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक बौद्धिक नैतिक और सौन्दर्य भोग से सम्बन्ध क्षेत्रों में शुभ के दर्शन किए जा सकते है। शुभ सापेक्ष या निरपेक्ष हो सकता है। सापेक्ष शुभ वह है, जो किसी अन्य शुभ की प्राप्ति कर सकते है। शुभ सापेक्ष या निरपेक्ष हो सकता है। सापेक्ष शुभ वह है, जो किसी अन्य शुभ की प्राप्ति का साधन है। जैसे परीक्षा में अच्छा स्थान प्राप्त करना सापेक्ष शुभ है, क्योंकि वह अच्छी नौकरी पाने का साधन है। शुभ वस्तुओं की एक श्रृंखला है, जिसके शिखर पर सर्वोच्च शुभ विराजमान है। सर्वोच्च शुभ स्वयं साध्य है और यह किसी अन्य आदर्श का साधक नही हो सकता।
सर्वोच्च शुभ के स्वरूप को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान आंतरिक नियमों को, कुछ सुख को, कुछ पूर्णता प्राप्ति को सर्वोच्च–शुभ मानते है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

7. **अधिकार और कर्त्तव्य (Right and Duty)**– मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामाजिक या सामान्य–हित के लिए समाज अपने सदस्यों को कुछ नैतिक अधिकार प्रदान करता है। व्यक्ति इन अधिकारों का उपभोग करता है। जो दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन करते हैं वे समाज द्वारा दण्डनीय हैं।

अधिकार–व्यक्तियों के सम्पूर्ण विकास के लिये अनिवार्य तथा समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाओं को 'अधिकार' कहते हैं। ये अधिकार कानूनी एवं नैतिक दो प्रकार के होते हैं।

समाज ही अधिकार और कर्त्तव्यों की आधारशिला और व्यक्तियों को उन्हें मानने के लिए बाध्य करता है।

कर्त्तव्य मनुष्य के अर्न्तगत वासना और विवेक के मध्य होने वाले द्वन्द्व का सूचक है। विवेक व्यक्ति को उचित–अनुचित का अन्तर बताता है। कर्त्तव्य एक प्रकार का नैतिक ऋण है जिसे चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म हो जाता है।

यदि हम अभ्यासपूर्वक सत् कर्त्तव्य करते है तो धर्मार्जन करते है और यदि असत् कर्म करते है तब हम अधर्म करते है। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है जबकि अधर्म चरित्र का दोष है। कर्त्तव्य बाह्य कर्म करते हैं तक हम अधर्म करते है।। धर्म अन्तर्निहित चरित्र की उत्कृष्टता है जबकि अधर्म चरित्र की ओर संकेत करता है। सद्गुण व्यक्ति के नैतिक विकास का प्रतीक होता है। इसमें तीन बाते आ जाती है–

(i) कर्तव्य ज्ञान
(ii) कर्तव्य का स्वेच्छा से पालन
(iii) सद्गुण का अर्जन।

पुण्य और पाप (Merit and Demerit)

जब हमारा कर्म नैतिक मानण्ड का अनुसरण करता है तो उसमें पुण्य होता है जब कोइ कर्म उससे असंगत होता है तो उसमें पाप होता है। उचित कर्म (पुण्य) से चरित्र का नैतिक उत्थान होता है और अनुचित कर्म (पाप) से चरित्र का नैतिक–पतन होता है।

वासनाओं पर नियन्त्रण रखाना पुण्य है किन्तु वासनाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करना उससे भी बड़ा पुण्य है। हत्या करना पाप है, किन्तु उससे भी गंभीर पाप हत्यारे को हत्या के लिए उकसाना है।

कर्त्तव्य से नैतिक पूर्णता की प्राप्ति होती है और फलस्वरूप पुण्य मिलता है और कर्त्तव्य से नैतिक पूर्णता की विपरीत दिशा में प्रगति होती है और फलस्वरूप पाप मिलता है। इस प्रकार, पुण्य और पाप चरित्र के ही लक्षण कहे जाते है।

पाप तथा भूल (Sin and Error)

पाप का अर्थ जानबूझकर कर्तव्य की लापरवाही दिखाना है। भूल का अर्थ अज्ञातवश कुछ ऐसा कार्य हो जाना जिससे स्वयं अथवा किसी अन्य व्यक्ति की हानि हो जाए।

भूल से किए गए कर्म में हानि पहुँचाने का अभिप्रायः इच्छा या उद्देश्य का अभाव रहता है। चूंकि यहाँ हानि भूल से हो जाती है इसलिए यह नैतिक निर्णय का विषय नहीं हो सकती क्योंकि केवल ऐच्छिक कर्म ही नैतिक–निर्णय का विषय हो सकता है।

जब हम किसी कार्य को अनुचित जानते हुए भी किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से करते है, तो पाप उत्पन्न होता है। पाप और भूल में मुख्य अन्तर यह है कि पाप जान–बूझकर किया जाता है किन्तु भूल अनजाने में हो जाती है। साथ ही, पाप में व्यक्ति की आंतरिक वृत्तियों तथा चरित्र पर विचार किया जाता है, लेकिन भूल अनजाने में हो जाती है। साथ ही, पाप में वयक्ति की आंतरिक वृत्तियों तथा चरित्र पर विचार किया जाता है, लेकिन भूल में क्रिया या परिणामों को बाहर से देखा जाता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व (Freedom Will Responsibility)

संकल्पः– अपनी इच्छानुसार कर्म करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता को ही 'संकल्प–स्वातन्त्र' कहते है। हमारे सभी कर्त्तव्य सम्बंन्धि निर्णयों का मूल आधार संकल्प की स्वतंत्रता है। यदि किसी मनुष्य ने किसी आन्तरिक या बाध्य दबाव में आकर कोई कर्म किया हो अथवा नही किया हो तो उस कर्म को उचित या अनुचित नही ठहराया जा सकता है। जैसे किसी डूबते हुए बालक को कोई व्यक्ति इसीलियें नही बचा पाया क्योंकि उसे तैरना ही नही आता तो उसके कर्म को अनुचित नही ठहराया जा सकता। उसी प्रकार यदि मृत्यु का भय दिखाकर कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से चोरी करवाता है तो चोरी करने वाले व्यक्ति को अनैतिक मानकर दण्ड नही दिया जा सकता है।

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने कहा है कि ''तुम्हे करना चाहिये, अतः तुम कर सकते हो।'' यहाँ ''चाहिये'' के अन्तर्गत स्वतंत्रता छुपी हुई है। जैसे तुम्हे सत्य बोलना चाहिये, दूसरों को धोखा नही देना चाहिये, तो सत्य बोल सकते है, दूसरो को धोखा देने अथवा चोरी करने से अपने आप को रोक सकते है।

मनुष्य अपने एच्छिक कर्मो और आदतो के लिये उत्तरदायी है। उसका अच्छा या बुरा चारित्र उसके द्वारा बार–बार किए एच्छिक कर्मो का परिणाम है और उसके लिये वह उत्तरदायी है।

कर्म के चुनाव के समय यद्यपि मनुष्य पर आंशिक रूप से वंश–परम्परा और परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है तथापि वे अपने ऐच्छिक कर्मो के लिये उत्तरदायी है। स्वतंत्रता का अर्थ पूर्ण अनियंत्रण नही वरन आत्म नियंत्रण है।

अरबन के अनुसार – ''मूल्य वह है जो मानवीय इच्छा की तृप्ति करें। मानवीय इच्छा की तृप्तिकारक सभी वस्तुएँ मूल्यवान है, अर्थात शुभ है''।

*'मूल्य' शब्द किसी भौतिक – वस्तु अथवा मानसिक अवस्था के उस गुण का बोध कराता है जिसके द्वारा मनुष्य की किसी आवश्यकता या इच्छा की तृप्ति होती है।

<u>दर्शनशास्त्र</u>

मूल्यों का विभाजन – मनुष्य की मूल प्रवृत्तियॉ या भावनाऐं है जो उनको अपनी सन्तुष्टि के लिये प्रेरित करती है।

अरबन ने मूल्यों को दो प्रकारों में विभाजित किया है–

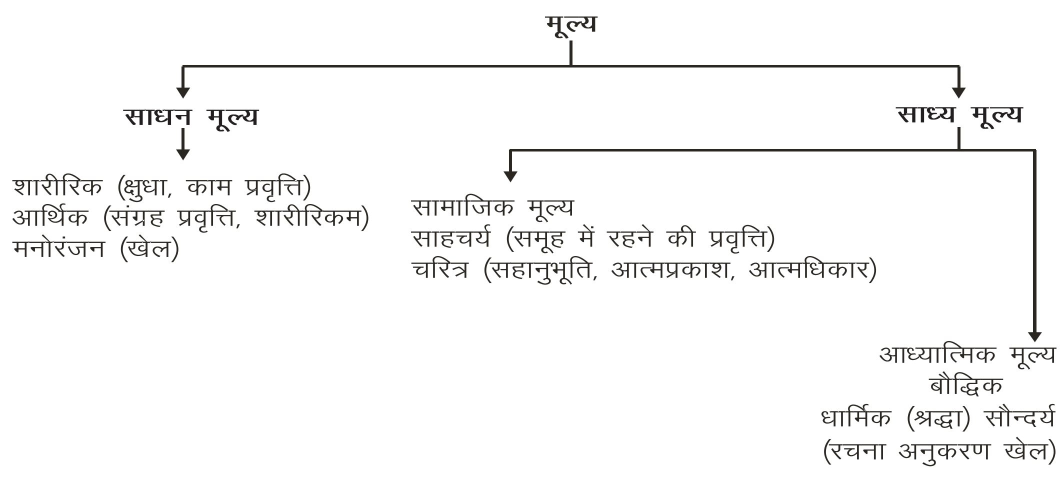

सामाजिक मूल्य जैविक मूल्यों से उच्च कोटि के है और आध्यात्मिक–मूल्य सामाजिक मूल्यों से उच्च कोटि के है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

साधन–मूल्य – साधन मूल्य और मनुष्य के लिए सभी वस्तुएँ समान रूप से मूल्यावान नही होती। कुछ केवल साधन के रूप में मूल्यवान होती है और कुछ स्वतः साध्य होने के कारण। अतः समस्त मूल्यों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है – साधन–मूल्य और साध्य–मूल्य।

राइट के अनुसार – ''साध्य मूल्य अपने ही कारण मूल्यवान होते है, साधन मूल्य अपने परिणामों के कारण मूल्यवान होते है।'' उदाहरण के लिए भोजन, वस्त्र, मकान, धन, सम्पत्ति तथा अन्याय भौतिक वस्तुऐं अपने आप में शुभ नही है, स्वास्थ्य जीवन – रक्षा तथा सुख के साधन होने के कारण उनकी कामना की जाती है। इसी कारण इन वस्तुओं से सम्बन्धित मूल्यों को 'साधन–मूल्य' की संज्ञा दी गयी है।

किन्तु कुछ मानसिक–अवस्थाऐं जिनकी स्वतः कामना की जाती है, यथा–सत्य, सौन्दर्य, संस्कृति और शील ये अपने परिणामों के कारण शुभ नही मानी जाती अपितु ये स्वतः साध्य और अपने आप में वांछनीय है। इनसे सम्बन्धित मूल्यों को ही 'साध्य–मूल्य' कहा जाता है।

साधन मूल्य – मनुष्य के लिए साधन–मूल्यों का विशेष महत्व है, क्योंकि ये उसके सुख, स्वास्थय, और जीवन रक्षा के अनिवार्य मूल आधार है। साध्य–मूल्य ही नही अपितु मनुष्य का संपूर्ण अस्तित्व भी अंततः इन्ही साधन–मूल्यों पर निर्भर होता है।

शारीरिक मूल्य वैयक्तिक मूल्यों के साधक है। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त शरीर द्वारा व्यक्ति श्रेष्ठ जीवन के अनुसरण में प्रयोग कर सकता है। खेल (मनोरंजन) भी मुख्य रूप से साधन मूल्य है, यह शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में मनोरंजन का साधन है। आर्थिक–मूल्य भी स्वतः मूल्यवान नही है, उसका मूल्य अन्य मूल्यों (यथा शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक) को अर्जित करने के साधन रूप में है। सम्पत्ति स्वतः वांछनीय नही है, बल्कि अन्य शुभों का साधन होने के कारण वांछनीय है।

इस प्रकार शारीरिक – आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य मूलतः साधन मूल्य है, साध्य मूल्य नही। साहचर्य के मूल्य जैसे सहकारिता, मैत्री, प्रेम आदि आत्म–विकास के साधन और साध्य दोनों है। इसी प्रकार चारित्रिक गुण यथा साहस, संयम, न्याय, प्रेम, ज्ञान आदि अपने आपमें शुभ है और आत्म लाभ या आत्म–उपलब्धि के साधन भी है।

इस प्रकार साहचर्य और चरित्र के मूल्य साधन–मूल्य और साध्य – मूल्य दोनों है।

साध्य–मूल्य :– ये मूल्य पूर्णतः परिणाम निरपेक्ष होते है। अर्थात इन मूल्यों का महत्व इनकी उत्कृष्टता के कारण होता है, परिणामों के कारण नही। इसी कारण ये सच्चतम मूल्य कहलाते है। साध्य–मूल्य मनुष्य की जिन मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्धित होते है उनका शुभ होना किसी देश काल परिस्थितियों पर निर्भर नही होता अपने वे सदैव और सर्वत्र शुभ होती है। सौन्दर्य मुल्य, बौद्धिक मूल्य और धार्मिक मूल्य प्रायः साध्य मूल्य माने जाते है।

सौन्दर्य के मूल्य पूर्णतया निरपेक्ष होते है और अपने लिए उनका मूल्य होता है। बौद्धिक मूल्य (ज्ञान–संस्कृति) भी साध्य मूल्य है क्योंकि विद्वता स्वतः महत्वपूर्ण है। धार्मिक मूल्य (प्रार्थना – ईश्वर चिंतान) साध्य मूल्य है। अच्छे जीवन में उनका सर्वोच्च महत्व है, वे भक्ति और पवित्रता के सर्वोत्कृष्ट रूप है।

इस प्रकार सौन्दर्य, धार्मिक और बौद्धिक अति जैविक (आध्यात्मिक / साध्य) मूल्य हैं। सामान्यतः सत्य, सौन्दर्य, शुभ अथवा सदाचार को साध्य मूल्य कहा जाता है। वे स्वयं शुभ है। ये तीन आदर्श आत्मा की तीन आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को तृप्त करते है। सत्य आत्मा के बौद्धि स्वभाव की सौन्दर्य उसके भावात्मक स्वभाव की ओर शुभ सदाचार अथवा नैतिक – उत्कृष्टता उसके संकल्पनात्मक स्वभाव की तृप्ति करते है।

मूल्य के दृष्टिकोण से उच्चतम शुभ एक दूसरे से उचित सम्बन्ध में अवस्थित सत्य सौन्दर्य और सच्चरित्रता आदि आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति में सन्निहित है। आत्मलाभ विविध मूल्यों के विचारपूर्वक व्यवस्थित करने से होता है।

नीतिशास्त्र का क्षेत्र

नीतिशास्त्र का क्षेत्र उसके विषयों के विस्तार से निर्धारित होता है। आदर्श मूलक विज्ञान होने के कारण वह नैतिक आदर्श की परिभाषा देने का प्रयास करता है। यद्यपि उसका सीधा सम्पर्क मानव

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

व्यवहार की प्रकृति या विकास से नही होता तथापि मानव व्यवहार के उपयुक्त आदर्श की स्थापना हेतु उसे मानवीय स्वभाव से परिचित होना आवश्यक है। व्यवहार से चरित्र प्रगर होता है और चरित्र संकल्पो के अभ्यास का परिणाम है। संकल्प का सम्बंध हमारे मन की आन्तरिक वृत्ति से उत्पन्न स्थाई प्रवृत्ति है। अतः किसी के चरित्र को जानने के लिये नीतिशास्त्र को मनुष्य के कर्मों के स्त्रोत, प्रेरणा, अभिप्राय, ऐच्छिक और अनैच्छिक किया आदि अन्य पहलुओं को जान लेना चाहिये। अतः कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र का स्थापना मनोवैज्ञानिक आधार पर होनी चाहिये।

किन्तु नीतिशास्त्र की मौलिक समस्या तो नैतिक आदर्श का स्वरूप है, जिसके आधार पर नैतिक निर्णय दिये जा सके। नीतिशास्त्र बताता है कि नैतिक आदर्श क्या है, पर शुभ क्या है?सब कर्मों मे किसे उचित कहा जाय?नीतिशास्त्र ऐसे आदर्शो की विवेचना करता है जिसके द्वारा आदते और बुरे चरित्र का निर्णय ले सके और यह भी बता सके कौनसे कर्म करने योग्य है और कौनसे नही;

नैतिक आदर्शों के समर्थन में पर्याप्त कारण और उनके पक्ष में तर्क प्रस्तुत करना भी नीतिशास्त्र का प्रमुख कार्य है।

मनुष्य का परमहित क्या है, उसका स्वरूप क्या है? इसके अन्तर्गत नीतिशास्त्र शुभ,सत,कर्त्तव्य आदि के स्वभाव की खोज करता है।

नीतिशास्त्र का सम्बंध नैतिक निर्णयों के स्वभाव विषय तथा मानदण्डो से है। नैतिक निर्णयों के साथ समाज की स्वीकृति और अस्वीकृति की भावना जुडी होती है। नीतिशास्त्र इनकी भी विवेचना करता है, यही नही नीतिशास्त्र को उस कर्त्तव्य बुद्धि की भी व्याख्या करनी पड़ती है जो हममें उचित कर्म के प्रति प्रेरित और अनुचित कर्म के प्रति अरूचि उत्पन्न करती है।

नीतिशास्त्र पुण्य–पाप, धर्माधर्म के लक्षणों का विवेचन करता है। यह, यह जानने का प्रयास भी करता है कि कोई कर्म पुण्य कर्म क्यों होता है,

नीतिशास्त्र इच्छा स्वातंत्र की प्रकृति पर अध्ययन करता है। अपने ऐच्छिक कर्मो के लिये मनुष्य उत्तरदायी है। दण्ड के स्वरूप और प्रकारों के साथ दण्ड के समर्थन में तर्को की स्थापना भी नीतिशास्त्र करता है।

नीतिशास्त्र का कार्य मनोविज्ञान, दार्शनिक, राजनैतिक, में उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन करनो भी है। जैसे मनोवैज्ञानिक समस्याऐं ऐच्छिक कर्म, कर्मो की प्रेरणा, इच्छा, सुख आदि की व्याख्या, मानव का तात्विक (वास्तविक) स्वरूप, ईश्वर, आत्मा की अमरता, श्रगत की नैतिक व्यवस्था जैसी दार्शनिक समस्याओं, व्यक्ति और समाज के सम्बंधी समाज शास्त्रीय समस्याओं और व्यक्ति राज्य का सम्बंध राज्य का नैतिक आधार और उनके नैतिक कर्त्तव्यों से सम्बंधित राजनैतिक समस्याओं की विवेचना करना भी नीतिशास्त्र का कार्य है।

बहुविकल्पी प्रश्न

(1) नीतिशास्त्र का शाब्दिक अर्थ है–
(अ) नियम (ब) चरित्र (स) रीति (द) सिद्धान्त

(2) नीतिशास्त्र है–
(अ) सैद्धान्तिक विज्ञान (ब) प्रायोगिक विज्ञान (स) आदर्शमूलक विज्ञान
(द) प्राणि विज्ञान

(3) नीतिशास्त्र न्याय का विवेचन करता है, ऐसा मानना है–
(अ) काण्ट (ब) अरबन (स) प्लेटो (द) चाणक्य

(4) नीतिशास्त्र मानव जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण है– कहना है–
(अ) चाणैय (ब) शुक्रनीति (स) अरस्तू (द) सुकरात

(5) नियमानुसार कर्म कहलाता है–
(अ) सत् (ब) शुक्रनीति (स) कर्तव्य (द) आदत

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(6) सत् का समानार्थ है–
(अ) पुण्य (ब) शुभ (स) उचित (द) कर्तव्य
(7) नीतिशास्त्र मूल्यांकन करता है–
(अ) मनुष्यों का (ब) विक्षिप्तो का (स) बालको का (द) पशुओं का
(8) ''नीतिशास्त्र मानव जीवन में सन्निहित आदर्श का विज्ञान है।'' नीतिशास्त्र की यह परिभाषा दी–
(अ) राइट (ब) काण्ट (स) अरस्तू (द) मैकेन्जी
(9) साधन मूल्य नही है–
(अ) चरित्र (ब) शारीरिक (स) आर्थिक (द) मनोरंजन
(10) साध्य मूल्य नही है–
(अ) बौद्धिक (ब) साहचर्य (स) मनोरंजन (द) सौन्दर्य
(11) अति–जैविक मूल्य है–
(अ) आर्थिक (ब) मनोरंजन (स) धार्मिक (द) शारीरिक
(12) जिन मूल्यों का शुभत्व देश काल परिस्थिति पर निर्भर नही होता, वे कहलाते है–
(अ) साधन मूल्य (ब) अनुचित मूल्य (स) उचित मूल्य (द) साध्य मूल्य

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) नीतिशास्त्र का शाब्दिक अर्थ क्या है?
(2) नीतिशास्त्र किस का मूल्यांकन करता है?
(3) नीतिशास्त्र कैसा विज्ञान है?
(4) कठोपनिषद् के अनुसार धीर मनुष्य किसका वरण करते है?
(5) प्लेटो ने नीतिशास्त्र को किसका विवेचन माना?
(6) मनु ने परम धर्म किसे माना है?
(7) अरबन ने मूल्यों को कितने भागों में बांटा है?
(8) साधन मूल्य कौन – कौनसे है?
(9) सामाजिक मूल्य कौनसे है?
(10) आध्यात्मिक मूल्य कौन–कौन से है?
(11) नियम विरूद्ध कर्म को क्या कहते है?
(12) शुभ की प्राप्ति का साधन क्या है?
(13) स्वयं साध्य शुभ कौनसा है?
(14) नैतिक मानदण्ड का उल्लघंन करने वाला कर्म क्या कहलाता है?
(15) अज्ञातवश किया गया खराब, कर्म, जिससे अन्य व्यक्ति की हानि हो जाए, कहलाता है?
(16) ''चाहिए'' का अर्थ क्या है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) कर्तव्य के रूप में नीतिशास्त्र को परिभाषित कीजिये?
(2) नीतिशास्त्र आदर्शमूलक विज्ञान है, कैसे?
(3) चाणक्य ने नीतिशास्त्र को स्पष्ट कीजिये?
(4) शाब्दिक दृष्टि से नीतिशास्त्र को स्पष्ट कीजियें?
(5) शुक्रनीति के अनुसार नीतिशास्त्र को परिभाषित कीजिये?
(6) मूल्य क्या है?
(7) साधन मूल्य क्या है?
(8) साध्य मूल्य क्या है?
(9) जैविक मूल्यों को स्पष्ट करो?
(10) अति जैविक मूल्यों को परिभाषित कीजिये ?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(11) सत् क्या है?
(12) सर्वोच्च शुभ क्या है?
(13) धर्म कया है?
(14) कर्तव्य को समझाइयें?
(15) भूल तथा पाप में अन्तर बताइयें?
(16) उत्तरदायित्व के प्रत्यय को समझाइये?

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) नीतिशास्त्र का शाब्दिक अर्थ बताइये?विभिन्न विद्वानों ने नीतिशास्त्र को किस प्रकार परिभाषित किया है?

(2) नीतिशास्त्र क्या है?कोई चार नैतिक प्रत्ययों की विस्तार से व्याख्या कीजिये।

(अ) सत्–असत् (ब) सत्–शुभ (स) सर्वोच्च शुभ (द) पुण्य–पाप
(स) अधिकार – कर्तव्य (र) स्वतन्त्रता – उत्तरदायित्व

(3) मूल्य क्या है?अरबन द्वारा दिए गए मूल्यों के वर्गीकरण की सविस्तार विवेचना कीजिये।

(4) राइट द्वारा दी गई मूल्यों की परिभाषा और उनके वर्गीकरण की सविस्तार विवेचना कीजिये।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

2

भारतीय नीतिशास्त्र

भारतीय विचारक बहुत प्राचीन काल से ही मनुष्य के आचरण और चरित्र से सम्बन्धित मूल प्रश्नों पर चिन्तन करते रहे हैं।

वेदों और उपनिषदों को भारतीय धर्म, दर्शन और नीतिशास्त्र का मूल उद्‌गम माना है। कर्मवाद, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता आदि नैतिक सिद्धान्तों का उदय वैदिक युग में ही हो चुका था। वैदिक युग में लोग अपने जीवन को अधिकाधिक सुख और समृद्ध बनाने का प्रयत्न करते थे। इसी कारण वैदिक–कालीन समाज में भौतिक ऐश्वर्य और सांसारिक सुख–समृद्धि को महत्व देने वाले प्रवृत्ति मार्ग को प्रधानता दी जाती थी। उपनिषद्‌कार आत्मत्याग या वैराग्य को ही आध्यात्मिक उन्नति का साधन मानते थे, इसे ही 'निवृत्ति–मार्ग' कहा जाता है।

भारतीय नीतिशास्त्र में नीतिशास्त्र को परिभाषित करते हुए, नीतिमंजरी में कहा है– कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध कराने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र है। उपनिषदों में नीतिशास्त्र को श्रेय (शुभ) को प्राप्त करने का साधन बताया गया है। मनुस्मृति में नीतिशास्त्र को सदाचार का विवेचन करने वाला शास्त्र बताया गया है। चाणक्य के अनुसार नीतिशास्त्र मानव चरित्र के मूल्यांकन की एक विधि है। शुक्राचार्य लिखते है कि जो शास्त्र नयन व्यापार करे अर्थात् व्यक्ति और समाज को कुमार्ग से सुमार्ग की ओर ले जाय। अतः भारतीय नीतिशास्त्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति भोग और योग, यथार्थ और आदर्श का समन्वय है।

आश्रम व्यवस्था का निहितार्थ

वर्तमान सन्दर्भ में विज्ञान द्वारा उपलब्ध प्रचुर सुखोपभोग के साधनों और जटिल सामाजिक व्यवस्था के देखते हुए कुछ विचारक आश्रम वयवस्था को वैयक्तिक विकास हेतु निरर्थक मानते हैं परंतु वास्विकता यह है कि इस व्यवस्था में कुछ स्थ्यायीतत्व ऐसे हैं, जिन्हें आज भी मानव दूसरे रूपों में स्वीकार करता है यथाः–

(1) आज के सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य का अर्थ अपनी शारीरिक, ऐन्द्रिक एवं मानसिक ऊर्जा का संरक्षण करते हुए उसे केवल विद्याध्ययन में अथवा किसी कौशल को सीखने में व्यय करना है। निष्ठा और संयम के बिना सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

(2) मनुष्य की जैविक या प्राकृत आवश्यकता पूर्ति हेतु ग्रहस्थ आश्रम की व्यवस्था है। भारतीय नीतिज्ञ इन बातों को जानते थे, अतः उनहोंने स्वेच्छाचारिता के स्थान पर विवाह संस्कार को स्थापित किया।

(3) वानप्रस्थ आश्रम लोकसंग्रह, समाज सेवा, विश्व–सेवा और आत्म–सेवा का प्रस्थान है। वानप्रस्थी निरपृह होकर अध्यात्म पथ पर अग्रसर होता है।

(4) सन्यास मात्र आत्मा में रमण करना है। वह लोक कल्याण से विमुख नही होता और ज्ञात का वितरण करता है। सन्यासी का कतव्य आत्म–साक्षातकार करना था। जीवन के परम सत्य में स्थित होना है और प्रवचन एवं स्वाघ्याय करना है।

आधुनिक युग में चाहे जितना विकास हुआ हो, जितने नये मानवीय मूल्यों के प्रति आकर्षण बढ़ा हो, फिर भी आश्रम–व्यवस्था के गुणों को वैयक्तिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं चारित्रिक दृष्टि से अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सत्य तो यह कि पेयक्तिक विकास ओर सामाजिक कल्याण की दृष्टी से आश्रम व्यवस्था अपरिहार्य है। यद्यपि इसमें युगानुकूल संशोधन किया जा सकता है तथपि इसके महत्व को नकारा नही जा सकता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

ऋण

वेदों के अनुसार सुख और स्वर्ग प्राप्ति ही मानव का चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति मुनुष्य को धर्म,सतकर्म, यज्ञ, कर्तव्य आदि पालन से होती है। इस चरम–लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वेदों में मनुष्य को ऋण त्रय से मुक्त होने पर भी जोर दिया है। ऋण तीन प्रकार के है– देवऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण।

देव ऋण

वेदों में भौतिक समुद्विके दाता के रूप में देवताआकें को माना गया है। देवता मनुष्यों को समपन्नता प्रदान करते हैं और मनुष्य की सुरक्षा करते हैं, अतः देवताओं का मनुष्य के ऊपर ऋण होता है। यज्ञों द्वारा मनुष्य देवताओं को प्रसन्न कर उनके ऋण से मुक्त होता है।

2.1.9 ऋषि ऋण

वैदिक व्यक्ति अपने प्राचीन ऋषियों से सांस्कृतिक विरासत के रूप में ज्ञान ग्रहण करता है। व्यक्ति अपने बाद आने वाली पीढ़ी को गुरू –शिष्य परम्परा में आने वैचारिक ज्ञान सम्पदा को हस्तानतरित करता है और इस प्रकार वह ऋषि ऋण से उऋण होने का प्रयास करता है।

2.1.10 पितृ ऋण

व्यक्ति पर बुजुर्गों अथवा पितृगणों का ऋण है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके संतानोत्पत्ति करना और संतति श्रृंखला की कड़ी को आगे बढ़ाना है। वैदिक व्यक्ति देव–ऋण द्वारा देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है और ऋषि तथा पितृ–ऋण द्वारा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह करता है।

1.1.11 पुरुषार्थ चतुष्टय

'पुरुषार्थ' दो शब्दों के मेल से बना है। 'पुरुष'(आत्मा) और 'अर्थ'(लक्ष्य)। पुरुषार्थ वह है जो व्यक्ति के जीवन की लक्ष्यपूर्ति के लिए आवश्यक और लाभदायक हो। व्यक्ति के कर्मों के लक्ष्य को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जिनके लिए मनुष्य की चेष्टाएँ होती है, वे ही उसके पुरुषार्थ है।

भारतीय विचारकों ने मनुष्य के इहलोक और परलोक हेतु चार आदर्श–साध्य या प्रधान लक्ष्य बताएं है। इन्हीं से प्रेरित होकर मनुष्य के सभी व्यापार होते हैं। ये चार पुरुषार्थ हैं–

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

2.1.12 धर्म

धर्म शब्द 'घृ' धातु से बना है। धर्म का अर्थ धारण करने योग्य कर्म से किया गया है। धर्म जीवन का एक अंश नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्तव्यों का समुचित पालन करने वाला व्यक्ति ही सच्चा धार्मिक व्यक्ति है।

ऋग्वेद के अनुसार–

'सत्यात नास्तिपरो धर्मः' अर्थात् सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है।

पाश्चात्य दर्शन में धर्म को Religion कहते हैं। Religion और धर्म समानार्थी नहीं हैं। 'धर्म' का क्षेत्र 'Religion' के क्षेत्र से व्यापक है। Religion का अर्थ उस मार्ग या पद्धति से है जो ईश्वर या सत्य से मिलाये। परन्तु 'धर्म' सम्पूर्ण जीवन को संतुष्ट करता है। Religion साधन है जबकि 'धर्म' साध्य है। सभी मनुष्यों को अपने धर्म का पालन करना चाहिए। गीता में कहा गया है कि – ''स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'' ।गीता 3.35। मनु ने धर्म के दस लक्षण बताए हैं– धैर्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, मानसिक संयम, अंतबाह्य शुद्धि, अस्तेय, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध का भाव। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में ''चारो वर्णों और चारों अवस्थाओ तथा चारो पुरुषार्थों से सम्बन्ध मनुष्य के निःशेष कर्तव्यसमुदाय को धर्म कहा जाता है।''

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

2.1.13 अर्थ

अर्थ मनुष्य जीवन की समस्त भौतिक सुख–सुविधा का आधार है। भतृहरि धन को ही सभी गुणों की खान मानते हैं। धन को व्यक्ति और समाज के भौतिक विकास के लिए आवश्यक माना गया है। बिना धन के व्यक्ति की आवश्कताएँ पूरी नहीं हो सकती। चाणक्य का कथन है कि ''वाणी का लगा हुआ घाव अर्थ से दूर हो जाता है इस प्रकार, अर्थ का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। तथापि धन मानव के लिए एक साधन है इसे जब भी साध्य माना गया है तब तब मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ है।''

2.1.14 काम

'काम' को दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है– सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ सामान्य अर्थ में विषयानुभवजन्य सुख 'काम' है। अर्थात् बाह्य वस्तु जो सुखद प्रतीत हो, उसके अनुभव की इच्छा 'काम' है। काम के अर्न्तगत समस्त इन्द्रियजन्य सुख और मानसिक सुख आ जाते हैं। विशेष अर्थ में काम का अर्थ है इन्द्रियजन्य सुख।

हिन्दू दर्शन में काम को वृहद् अर्थ में किया जाता है। यहाँ इन्द्रियों के दमन की बात नहीं की गयी है अपितु इन्द्रिय – नियन्त्रण रखते हुए उन्हें तृप्त करना आवश्यक समझा जाता है। काम को संतुलित बनाये रखने के लिए धर्म का बोध परमावश्यक है। हिन्दू धर्म व्यक्ति की वासनाओं एवं इच्छाओं को नियन्त्रित रूप से तृप्त करने का आदेश देता है। राजा जनक इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे संसार में रहते हुए भी सांसारिकता से ऊपर थे। जिस प्रकार कमल जल में रहकर भी उससे अलग रहता है उसी प्रकार कामतृप्ति में हमें अपने विवेक को भूलना नहीं चाहिए।

2.1.15 मोक्ष

चौथा और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष है। आत्मा को अपनी समस्त स्वाभाविक शक्तियों से सम्पन्न होने की स्थिति है। अज्ञान के कारण आत्मा बंधन में पड़ जाती है इस बंधन से छूटकर आत्मा को अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना मोक्ष है।

मोक्ष का सामान्य अर्थ है– मोक्ष एक ऐसी अवस्था है, जहाँ दुखों का पूर्ण अभाव रहता हैं। कुछ लोगों ने इस अवस्था को केवल दुःखरहित अवस्था कहा है, किन्तु कुछ अन्य विचारकों के अनुसार इस अवस्था में विशुद्ध आनंद की प्राप्ति होती है।

हिन्दू विचारक विश्व में दुख, पीड़ा एवं अपार कष्ट देखकर तिलमिला जाते हैं। ये व्यक्ति को बंधनग्रस्त पाते हैं। बंधन दुख का मूल कारण है अज्ञान के कारण व्यक्ति बंधन ग्रस्त होता है। अज्ञान के नाश से ही व्यक्ति के दुःख दूर हो सकते हैं। और मोक्ष की प्राप्ति संभव होती है। इस प्रकार मोक्ष–प्राप्ति होने पर व्यक्ति जन्म मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। और उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहता।

2.1.16 पुरुषार्थों की सार्थकता

हिन्दू चिन्तन मानव जीवन को सरिता मानता है और इस सरिता में अर्थ और काम रूपी जल प्रवाहित हो रहा है, इस अर्थ और काम के प्रवाह को धर्म और मोक्ष के दो किनारों से संतुलित किया है। अर्थात् काम और अर्थ का उपयोग धर्म के बिना निंदनीय माना गया है। अर्थ और काम तभी तक पुरुषार्थ है जब तक धर्म की नींव पर इनकी इमारत खड़ी है।

धर्म का फल लौकिक सुख शान्ति और पारलौकिक लक्ष्य स्वर्ग माना गया है। स्वर्ग सुखों की भी समाप्ति होती है। उपनिषद् गीता और पुराण यह स्वीकारते हैं कि धार्मिक कर्तव्यों के फलस्वरूप जो पुण्य संचित होता है वह भी भोग के पश्चात् क्षय हो जाता है। मनुष्य को स्वर्ग छोड़कर पुनः मृत्युलोक में आना पड़ता है।

आदर्श के दृष्टिकोण से मोक्ष ही सर्वप्रमुख पुरुषार्थ है, अन्य पुरुषार्थ उसकी प्राप्ति के साधनमात्र है। मोक्ष (आत्मसाक्षात्कार/परम् आनन्द) को जीवन का चरम–लक्ष्य स्वीकार करते है। मोक्ष शुभ और अशुभ से परे निर्विकार स्थिति है। भारतीय विचारक मोक्ष को ही सर्वोच्च आदर्श मानते है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

2.02 निष्काम कर्म एवं लोकसंग्रह

भगवद्गीता जिसे गीता कहा जाता है, हिन्दुओं का पवित्र और लोकप्रिय धार्मिक–ग्रन्थ है। विश्व साहित्य में ऐसा ग्रन्थ मिलना दुर्लभ है। गीता में समस्त भारतीय दर्शन का सारतत्व निहित है।

वर्तमान युग में गीता का अत्यधिक महत्व है क्योंकि आज मानव के सामने अनेक समस्याऐं है जिनका निराकरण गीता के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है।

श्री अरविन्द, गांधीजी तथा लोकमान्य तिलक का मानना है कि गीता में निष्काम–कर्म को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। गीता में योग शब्द का उपयोग आत्मा का परमात्मा से मिलन के अर्थ में किया है। मानव मन के तीन अंगों के अनुरूप गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का समन्वय हुआ है। गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति को मोक्ष का मार्ग कहा है।

कर्म का अर्थ आचरण है। उचित कर्म से ईश्वर को अपनाया जा सकता है। गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को फल की आसक्ति का त्याग करके दृढ़तापूर्वक कर्तव्य पालन करने की शिक्षा दी है।

निष्काम–कर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच कर्मवाद तथा संन्यास के बीच अथवा भोगवाद और वैराग्यवाद के बीच सामजस्य स्थापित किया जाता है कर्म तो हमें करना ही है, परन्तु श्री कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो मनुष्य अपने कर्मों के फल को ईश्वर उपासना करते हुए उसी को समर्पित कर देते है, वे संसार के दुःखों से मुक्त हो जाते है। साधारणतः हम फल की आशा से कर्म करते है। सांसारिक – विषयों के प्रति हमारा राग द्वेष रहने से व्यक्ति जन्म मरण के चक्र में पड़ता है। कर्तव्य पर हमारा कोई अधिकार नहीं रहता, फल सदैव हमारी कामना के अनुकूल भी नहीं रहता अतः हमें कर्तव्य की भावना से कर्म करना चाहिए, कर्मफल की कामना से नहीं। निष्काम कर्म का अर्थ साधारणतः बिना कामना के कर्म करना लिया जाता है। क्योंकि कामनाओं से प्रेरित होकर कर्म करने से और फल की आशा रखकर कर्म करने से व्यक्ति बंधन में फसता है। किन्तु निष्काम कर्म करने से मोक्ष मिलता है क्योंकि निष्काम कर्मयोगी कर्तव्य, कर्तव्य के लिए करता है अथवा कर्तव्य ईश्वर के लिए करता है। स्पष्ट है कि यहाँ कर्म का उद्‌देश्य तो है किन्तु फल के प्रति आसक्ति नहीं है। 'गीता' के अनुसार आत्मा स्वभावतः कर्त्ता नहीं है। अज्ञानवश वह अपने को कर्म करने वाला समझ लेती है। सांसारिक बंधन से मुक्त होने का उपाय यह है कि व्यक्ति ईश्वर को विश्व का संचालक मानते हुए कर्म करता रहे। ऐसा निष्काम कर्मयोगी संसार में रहते हुए सांसारिकता से परे रहता है। जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल से बाहर रहता है। अपने समस्त कर्मो और उनके परिणामों को ईश्वर में अर्पित कर आशारहित और ममतारहित होकर अनासक्ति भाव से कर्म करना ही निष्काम कर्म है। अनासक्तभाव से कर्म का आचरण करने से व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त होता है। ''कर्म में आसक्त हुआ अज्ञानी जैसे कर्म करता है, वैसे ही अनासक्त हुआ ज्ञानी भी लोक संग्रह को चाहता हुआ कर्म करे'' आत्म लाभ या ईश्वर लाभ की दृष्टि से ही हुआ कर्म कर्म है। इसी में लोकसंग्रह की भी भावना आ जाती हैं क्योंकि वह ईश्वर का ही कार्य है। अन्य इच्छा से किया गया कर्म सच्चा कार्य नहीं है।

गीता के अनुसार व्यक्ति को अपनी स्वार्थ प्रधान इच्छाओं का दमन करना चाहिये। समस्त अहम् प्रधान इच्छाओं को ईश्वर की ओर उन्मुख कर मानवता की सेवा में लगा देना चाहिये। गीता समस्त प्राणियों के प्रति सदिच्छा, दुखियों के प्रति सहानुभूति सबके लिए सद् व्यवहार व दया, अपराधियों के लिए क्षमा, सौम्यता, नम्रता, सन्तोष, निर्भयता के भाव को धारण करने एवं आत्म त्याग के प्रयोग का निषेध नहीं करती। पत्नी, पुत्र एवं परिवार के संकुचित प्रेम से ऊपर उठना चाहिये। सर्वभूत हित तथा लोकसंग्रह हमारे कर्म के प्रयोजन होने चाहिंऐ। (1) स्वार्थ को नष्ट कर देना चाहिये, स्वार्थरहित मानवता का विकास करना चाहिये। गीता अहंप्रधान इच्छाओं के देवीकरण द्वारा परार्थमूलक इच्छाओं में परिवर्तित करने के पक्ष में है। श्री कृष्ण ने इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाले स्थितप्रज्ञ मनुष्य को निष्काम कर्मयोग के योग्य माना है क्योंकि ऐसे स्थितप्रज्ञ मनुष्य की संयमित और स्थिर बुद्धि को निष्काम कर्मयोग पालन के लिए आवश्यक माना है। (वासनाओं इच्छाओं, लाभ–हानि, सुख–दुःख, जय–पराजय में समत्व भाव रखती है) निष्काम कर्मयोगी को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। स्वधर्म से तात्पर्य प्रत्येक मनुष्य के अन्दर के स्वाभाविक गुण और क्षमताओं से है। श्री कृष्ण कहते है कि चारों वर्णों की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

आधार पर की है अतः वर्णधर्म का पालन करना चाहिए। यदि किसी मनुष्य के अन्दर मानसिक कार्य करने की क्षमता है तो उसे शारीरिक कार्य की क्षमता न होने पर शारीरिक कार्य नहीं करने चाहिए क्योंकि उसे उसमें सफलता नहीं मिलेगी। जिसके अन्दर जो क्षमता और गुण है वह उसी कार्य को करे। इसी से कहा गया है कि ''स्वधर्म निधन श्रेय परधर्म भयावह''।

2.03 गाँधी दर्शन

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को पोरबन्दर में हुआ था। रूढ़िवादी परिवार होते हुए भी मोहनदास कमरचन्द गाँधी को आधुनिक शिक्षा उपलब्ध हुई। उनका पालन–पोषण जैसे वातावरण में हुआ उसके परिणामस्वरूप वे धार्मिक, नैतिक परम्पराओं को जानने के साथ आधुनिकता के प्रति भी जागरूक हो पाए।अफ्रीका–वास के दौरान अनैतिक एवं रंगभेद पर आघृत नियमों के विरूद्ध 'शांतिपूर्ण प्रतिवाद' किया।

गाँधीजी के विचार पर हिन्दू परम्परा की गहरी छाप थी। टालस्टाय ने ईसाई शिक्षा को जिस प्रकार प्रतिष्ठित किया उसका प्रभाव भी महात्मा गाँधी के विचारों पर पड़ा और ईसा की कुछ शिक्षाओं को उन्होंने महत्वपूर्ण स्थान दिया। गाँधीजी ने 'इस्लाम' और जोरास्ट्रीयन धर्मों का भी अध्ययन किया। इन सब प्रभावों के साथ अपनी मौलिकता और नवीनता के आधार पर नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, सामान्य समस्याओं सभी क्षेत्रों में गाँधीजी ने 'अपने प्रयोग' प्रारम्भ किये। गाँधीजी ने स्वेदशी स्वराज और सर्वोदय को ईश्वर प्राप्ति के सोपान माने है। स्वेदशी हमारे अन्दर वह प्रेरणा है, जो कि हमें अधिक दूर को छोड़कर हमारे निकट चारों ओर की सेवाओं का प्रयोग करने को सीमित करती है'' स्वेदशी के व्यवहार से व्यक्ति और समाज में आत्मनिर्भरता और स्वदेश प्रेम जाग्रत होता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए गाँधीजी 'स्वराज' शब्द का प्रयोग करते है। स्वराज का अर्थ है 'अपना राज्य' 'अपना शासन'। वास्तविक स्वराज वहीं है जिसमें धनी तथा निर्धन दोनों की आवश्यकताओं सहज रूप में पूरी होती रहे।

'स्वराज' का अर्थ है हर व्यक्ति के मन में स्वतन्त्रता का भाव सजग रहे। सच्ची स्वतन्त्रता भेदभाव से ऊपर उठ जाती है। जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति है जिसमें मानव भेदभाव से ऊपर उठ प्रेम तथा आनन्द का जीवन पाता है।

2.3.1 सर्वोदय

सर्वोदय का आदर्श राम–राज्य (आदर्श राज्य) का आदर्श है। सर्वोदय का अर्थ सभी का समुचित विकास है। उसका लक्ष्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना है, जिसमें सभी व्यक्तियों, भाषाओं, धर्मो और साहित्यों इत्यादि को अभ्युदय का अवसर मिले।

आदर्श राज्य वही है जहाँ सभी व्यक्तियों को समान अवसर तथा सुविधा मिलती रहे तथा जहां शुभत्व, शान्ति तथा आनन्द का वास हो। सर्वोदय का विचार व्यापक और परमार्थ मूलक है। सर्वोदय का आधार प्रेम है, इसमें यह विचार निहित है कि व्यक्ति परहित के लिए आत्म बलिदान भी कर सकता है। हर कर्म, योजना (सामाजिक तथा राजनीतिक) तथा क्रिया का एकमात्र लक्ष्य सबों का शुभत्व है। सर्वोदय विचार सबके मूल में एकरूपता को स्वीकारता है जो नैतिक आचरण का आधार बनती है।

गाँधीजी का कहना है चाहे इस प्रकार की एकरूपता, (आदर्श) की अनुभूति न हो मगर इस आदर्श का महत्व इसी में है कि यह प्रेरणा स्त्रोत अवश्य बनता है।

ग्रामीण गणतन्त्र में ग्राम की धरती किसी व्यक्ति की नहीं ग्राम की समझी जाएगी। यही बात ''वसुधैव कुटुम्बकम'' के आदर्श में निहित है।

गाँधीजी का मानना है कि यद्यपि पूर्णतया अहिंसात्मक समाज की स्थापना सरल नहीं है तथापि सर्वोदयी व्यवस्था में पुलिस, न्यायालय आदि का स्वरूप भिन्न होगा, जहाँ इन व्यवस्थाओं के अधिकारियों का उद्देश्य जन की सेवा तथा दोषी अपराधी का सुधार होगा। अपराधी को दण्ड देने से ही अपराध नहीं मिटता, प्रेम पूर्ण व्यवहार तथा उनके हृदय में सोये हुए शुभत्व को जगाकर अपराध कम किए जा सकते हैं।

2.3.2 एकादश व्रत

महात्मा गाँधी ने अपने सम्पूर्ण नैतिक–दर्शन का निर्माण योग दर्शन द्वारा बनाए गए पांच यमों –

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य के आधार पर किया है। इनके अतिरिक्त अभय तथा अस्वाद को भी गाँधीजी ने आवश्यक व्रतों के रूप में स्वीकार किया है। गाँधीजी ने उस समय की भारतीय राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक – परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए – शारीरिक श्रम, स्वदेशी, सर्वधर्मसमभाव, तथा अस्पृश्यता निवारण जैसे सिद्धान्तों को प्रतिपादन किया। कुल मिलकर ये एकादश व्रत गाँधीजी के नैतिक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

(1) अहिंसा – गाँधीजी ने अहिंसा की बहुत ही व्यापक और संतुलित व्याख्या की है। उन्होंने अहिंसा के दो अर्थ बताए हैं – निषेधात्मक और स्वीकारात्मक। निषेधात्मक अर्थ के अनुसार क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, विद्वेष तथा स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी भी प्राणी को मन वचन कर्म द्वारा कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है। स्वीकारात्मक अर्थ में सभी प्राणियों के प्रति प्रेम, दया, सहानुभूति और सद्भावना रखना है। अहिंसा का आधार मनुष्य का नैतिक या आध्यात्मिक बल है उसकी विवशता या दुर्बलता नहीं। अहिंसक व्यक्ति अत्याचारी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखता अपितु अपनी इच्छा से कष्ट सहकर भी अन्याय और अत्याचार का विरोध करता है। यह उसके नैतिक और आध्यात्मिक बल का द्योतक है।

अहिंसा केवल मानव जीवन का नहीं अपितु समस्त विश्व का नियम है। यही विश्व का अन्तिम सत्य है। अर्थात् सत्य और अहिंसा एक ही है। अहिंसा के भलीभांति पालन के लिए ईश्वर में अटूट आस्था होना आवश्यक है।

अतः हिंसा अथवा अहिंसा का निर्णय मनुष्य के कर्म और उसके परिणाम के आधार पर नहीं, अपितु कर्म के मूल में निहित उद्देश्य के आधार पर किया जा सकता है।

गाँधीजी ने स्वयं आजीवन कष्ट सहकर अहिंसात्मक उपायों द्वारा सभी प्रकार के अत्याचारों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया और अन्य सभी लोगों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी।

(2) सत्य – जो तथ्य जिस रूप में देखा, सुना, जाना या अनुभव किया गया है उसे कोई परिवर्तन या संशोधन के बिना उसी रूप में व्यक्त करना सत्य है। सत्य–पालन हेतु मनुष्य को कम बोलना चाहिए, अतिश्योक्ति, पक्षपात, तथ्यों को छिपाने या परिवर्तित करने का कभी प्रयत्न नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सत्य का उल्लंघन है।

गाँधीजी सत्य को भी बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं और मानते हैं कि विचार–कर्म और वाणी द्वारा सत्य–आचरण अनिवार्य है। उनका मानना है कि अपने दैनिक व्यवहार में दृढ़तापूर्वक सत्य के अनुसार आचरण करना चाहिए, इसी से सत्य की वास्तविक साधना संभव है। यदि मनुष्य अपने व्यवहारिक जीवन में सत्य का दृढ़तापूर्वक पालन करे तो उसे इस समस्या का समाधान स्वतः प्राप्त हो जाऐगा कि किसी कठिन अवसर पर वास्तव में उसका क्या कर्तव्य है?उनका सम्पूर्ण जीवन इसका साक्षी है।

(3) अस्तेय – गाँधीजी ने इसे भी बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। शारीरिक, मानसिक, वैचारिक आदि सभी प्रकार की चोरी से सदा दूर रहना ही अस्तेय है। जानबूझकर किसी को कोई वस्तु या धन सम्पति चुराना शारीरिक चोरी है। किसी वस्तु को चोरी से प्राप्त करने की इच्छा करना और उसके लिए ललचाते रहना मानसिक चोरी है। किसी अन्य व्यक्ति के विचारों को स्वंय अपने मौलिक विचार कहकर दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करना वैचारिक या बौद्धिक चोरी है।

अस्तेय का पालन किए बिना अहिंसा और सत्य के अनुसार आचरण करना बहुत कठिन है।

(4) अपरिग्रह – अपरिग्रह के अनुसार आचरण करने का अर्थ है कि निरन्तर श्रम करते हुए भी समाज से उतना ही ग्रहण करे जितना उसके जीवन के लिए अनिवार्य हो, शेष सब कुछ उसे समाज के कल्याण के लिए समर्पित कर देना चाहिए। अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु को ग्रहण करके उसे भविष्य के लिए संचित करना अपरिग्रह का उल्लघंन है। अपरिग्रह के पालन हेतु मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं सीमित करनी चाहिए, अपरिग्रह अनुसार आचरण करने से ही समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता का अंत होगा मनुष्य का जीवन अधिक शांतिपूर्ण एवं सुखमय होगा।

(5) ब्रह्मचर्य – ''मन वचन कर्म से सभी समयो में तथा सभी स्थानों पर अपनी समस्त इन्द्रियों का पूर्ण संयम अथवा नियन्त्रण ही ब्रह्मचर्य है।'' ब्रह्मचर्य के पूर्णरूपेण पालन हेतु व्यक्ति को अपनी सभी इन्द्रियों

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

को संयमित और नियन्त्रित करना होगा। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए मनुष्य को तामसिक भोजन इत्यादि से यथासंभव दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वासनात्मक विचारों का परित्याग करके अपने मन में केवल पवित्र विचारों का विकास करना आवश्यक है। ईश्वरोपासना, स्वाध्याय तथा सामाजिक हित के कार्य में निरन्तर व्यस्त रहने से ब्रह्मचर्य का निष्ठापूर्वक पालन करना सुगम होगा।

(6) अभय – अहिंसा पालन की अनिवार्यता निर्भयता है। अभय के अर्न्तगत भूख, प्यास, शारीरिक आघात, आक्रोशात्मक व्यवहार, दुर्वचन और मृत्यु के भय से भी ऊपर उठना आता है। वह मानवीय जीवन का सद्गुण है जिसे विकसित करना हमारा नैतिक कर्तव्य है।

(7) अस्वाद – सामान्यतः मनुष्य के भोजन के ढंग 'स्वाद' पर आघृत होते है। स्वादिष्ट भोजन का लोभ गरिष्ठ और तामसी भोजन के लिए प्रेरित करता है। ऐसे भोजन से लोलुपता और इन्द्रियों की उत्तेजना प्रबल होती है इसलिए गाँधीजी संतुलित आहार की अनुशंसा करते है जो स्वास्थ्यवर्धक हो, इन्द्रियों को उत्तेजित न करे। अतः इन्द्रिय अनुशासन हेतु भोजन के ढंग को नियन्त्रित करना अनिवार्य है।

(8) सर्वधर्म समभाव – गाँधीजी कहते है कि सभी धर्म यथार्थ है, सत्य है। सभी धर्म उन्हें उतने ही प्रिय है जितना हिन्दू धर्म। हर धर्म अपने धर्मावलम्बी को एक श्रेष्ठतर मानव बनाने की क्षमता रखता है। गाँधीजी प्रार्थना करते है कि ईश्वर हर व्यक्ति को आत्मोत्थान के लिए शक्ति और प्रकाश दे ताकि एक हिन्दु श्रेष्ठतर हिन्दू बन सके, मुसलमान श्रेष्ठतर मुसलमान तथा क्रिश्चियन श्रेष्ठतर क्रिश्चियन बन सके। धर्मों का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य को श्रेष्ठ मानव बनाना है।

(9) स्वदेशी – स्वदेशी का शाब्दिक अर्थ है – 'अपने देश का' स्वदेशी विचार का प्रयोग गाँधीजी जीवन के हर पक्ष में (सामाजिक – राजनैतिक – आर्थिक) करते है। स्वदेशी सिद्धान्त स्वदेशी – उद्योग तथा ग्रह–उद्योग की सुरक्षा की बात करता है, किन्तु 'स्वदेशी' का विचार विदेशी के विरोध पर आघृत नहीं है अपितु वह तो दोनों के सहअस्तित्व को स्वीकारता है। परन्तु जब विदेशी–वस्तुओं का उपयोग स्वदेश के अस्तित्व के लिए संकट बन जाता है, तब उसके बहिष्कार की बात करता है। क्योंकि हर देश का प्रथम कर्तव्य सबों के लिए रोजगार, काम तथा भोजन आदि की व्यवस्था करना है।

(10) शारीरिक श्रम – गाँधीजी का तात्पर्य है कि जीवित रहने के लिए हर व्यक्ति को श्रम करना आवश्यक है हर व्यक्ति श्रम की गरीमा को समझते हुए कम से कम अपनी रोटी के लिए तो कुछ शारीरिक कर्म आवश्यक है। हर व्यक्ति हर प्रकार का शारीरिक कर्म नहीं कर सकता अतः व्यक्ति स्वयं निर्धारित करे कि वह किस प्रकार का शारीरिक श्रम कर सकता है। व्यक्ति अपनी शक्ति और रूचि के अनुरूप किसी भी कार्य का चयन कर सकता है। हर व्यक्ति को स्वेच्छा से श्रम करना चाहिए बाध्यता से नहीं, क्योंकि सामाजिक जीवन का आधार प्रेम तथा स्वेच्छापूर्ण सहयोग है।

(11) अस्पृश्यता निवारण – छूआछूत समाज का कलंक है। उसको दूर करना प्रत्येक का धर्म है। सभी प्रकार के शारीरिक श्रम समान हैं। शारीरिक श्रम परमावश्यक है। गाँधीजी ने सभी प्रकार की सफाई जैसे मल–मूत्र, कूड़ा–कर्कट, सार्वजनिक – शौचालय, नालियां, गलियां, सड़कें आदि का कार्य सबको करने का परामर्श दिया।

बहुविकल्पी प्रश्न

(1) ''नीतिशास्त्र मानव चरित्र मूल्यांकन की विधि है।'' कहा है–
(अ) उपनिषद (ब) शुक्राचार्य (स) मनु (द) चाणक्य

(2) बौद्धिक और चारित्रिक–विकास कराने वाला आश्रम है–
(अ) गृहस्थ (ब) वानप्रस्थ (स) ब्रह्मचर्य (द) संन्यास

(3) कर्मफल में आसक्ति का त्याग कराने वाला सिद्धांत या मार्ग है–
(अ) वानप्रस्थ (ब) संन्यास (स) निष्काम कर्म (द) ब्रह्मचर्य

(4) देवताओं का मनुष्य को सम्पन्नता और सुरक्षा प्रदान करना, कहलाता है?
(अ) पितृ ऋण (ब) ऋषि ऋण (स) देव ऋण (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(5) 'धारण करने योग्य' कर्म है–
(अ) निष्काम कर्म (ब) धर्म (स) मोक्ष (द) सत्य

(6) ''स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'' कहा गया है–
(अ) राधाकृष्णन (ब) मनु (स) गाँधीजी (द) गीता

(7) निष्काम कर्म को सर्वाधिक महत्व दिया है?
(अ) श्री अरविन्द (ब) गाँधीजी (स) लोकमान्य तिलक (द) उपर्युक्त तीनों

(8) इन्द्रियों और मन पर पूर्ण–नियन्त्रण रखने वाला कहलाता है–
(अ) सत्यनिष्ठ (ब) अहिसंक (स) स्थित प्रज्ञ (द) ब्रह्मचारी

(9) गाँधीजी के विचारों पर प्रभाव पड़ा?
(अ) इस्लाम (ब) ईसाई शिक्षा (स) हिन्दू परम्परा (द) तीनों

(10) एकादश व्रत में सम्मिलित नहीं है–
(अ) अस्तेय (ब) अस्वाद (स) अभय (द) आत्म बलिदान

(11) 'अस्वाद' विचार का सीधा सम्बन्ध है–
(अ) सत्य (ब) अहिन्सा (स) ब्रह्मचर्य (द) अपरिग्रह

(12) मनु द्वारा बताए धर्म के लक्षणों में सम्मिलित नहीं है–
(अ) क्षमा (ब) अस्तेय (स) अहिंसा (द) सत्य

(13) मोक्ष है–
(अ) वास्तविक ज्ञान (ब) बंधन का नाश (स) विशुद्ध आनन्द (द) तीनों

(14) श्री कृष्ण ने चारों वर्णों की सृष्टि का आधार बनाया है–
(अ) गुण (ब) कर्म
(स) कर्म और गुण दोनों (द) कोई नहीं

(15) अतिशयोक्ति, पक्षपात, तथ्यों को छिपाना या परिवर्तित करना अधिक बोलना आदि किस व्रत का उल्लंघन है–
(अ) अहिंसा (ब) स्वधर्म (स) अभय (द) सत्य

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) चार आश्रम कौनसे है?
(2) ऋण कितने प्रकार के है?
(3) चरम – पुरुषार्थ (साध्य) कौनसा है?
(4) गीता का मुख्य आदर्श कौनसा सिद्धान्त है?
(5) गाँधीजी के अनुसार व्रतों की संख्या कितनी है?
(6) गाँधीजी के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के सोपान कौनसे है?
(7) सभी आश्रमों का आश्रय – प्रदाता कौनसा आश्रम है?
(8) देवऋण से उऋण होने का उपाय क्या है?
(9) भर्तृहारी के अनुसार कौनसा पुरुषार्थ सभी गुणों की खान है?
(10) अनासक्त ज्ञानी को कैसे कर्म करने चाहिए?
(11) स्वदेशी का शाब्दिक अर्थ है?
(12) गाँधीजी के अनुसार सामाजिक जीवन का आधार क्या है?
(13) वैदिक युग में किन दो मार्गों की बात की जाती है।
(14) नीतिशास्त्र को 'कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध कराने वाला शास्त्र' किसमें कहा है?
(15) भौतिक ऐश्वर्य और सांसारिक सुख–समृद्धि को महत्व देने वाला मार्ग कौनसा है?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) एकादश व्रतों के नाम बताइये?
(2) ''स्वदेशी'' क्या है?
(3) Religion और धर्म किस प्रकार भिन्न है?
(4) ऋषि ऋण को समझाइये?
(5) राधाकृष्णन ने धर्म को कैसे परिभाषित किया है?
(6) गीता के अनुसार 'योग' के प्रकार कितने है?
(7) गीता के अनुसार 'स्वधर्म' क्या है?
(8) अहिंसा क्या है?
(9) सत्य क्या है?
(10) अस्तेय को समझाइये?
(11) अपरिग्रह को समझाइये?
(12) ब्रह्मचर्य को स्पष्ट करो?
(13) 'अभय' से आप क्या समझते हो?
(14) 'अस्वाद' क्या है?
(15) सर्वधर्म समभाव क्या हैं?

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) आश्रम व्यवस्था को विस्तार से समझाइये?वर्तमान समय में इसके औचित्य पर प्रकाश डालिए?
(2) पुरुषार्थ चतुष्टय कौन से है?स्पष्ट कीजिये?पुरुषार्थो की सार्थकता पर अपने विचार व्यक्त कीजिये?
(3) निष्काम कर्म सिद्धान्त क्या है?निष्काम कर्मयोगी के कर्म का प्रयोजन क्या होना चाहिए?
(4) एकादश व्रत कौनसे है?सविस्तार स्पष्ट करो?
(5) महात्मा गाँधी के सर्वोदय विचार को स्पष्ट करो?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

3

पाश्चात्य नीतिशास्त्र

3.01 सुकरात – ज्ञान एवं सद्गुण

नीतिशास्त्र का उद्देश्य कुछ ऐसे मूल सिद्धान्तों की स्थापना करना है जिनके आधार पर मनुष्य स्वयम कें प्रति एवं दूसरे के प्रति कर्तव्यों का निर्धारण कर सके तथा अपने एवं दूसरों के कर्मों के संबंध में उचित–अनुचित का निर्णय कर सके। पश्चिमी देशों में विकसित आचारशास्त्र के उक्त सिद्धान्तों को पाश्चात्य नीतिशास्त्र की संज्ञा दी गई है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन के इतिहास का प्रारम्भ यूनानी नैतिक दर्शन से स्वीकारा जाता है और यूनानी नैतिक दर्शन पाश्चात्य नैतिक दर्शन की आधारभूमि प्रस्तुत करते हैं। यूनान में मनुष्य के चरित्र एवं व्यावहारिक जीवन से संबंधित समस्याओं के बारे में स्वतन्त्र चिन्तन ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ इससे पूर्व यूनान में दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य बाह्य जगत की व्याख्या करना ही था। मानव जीवन की समस्याओं पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार का आरम्भ 'सोफिस्टस' दार्शनिकों द्वारा किया गया जो यूनान में उस समय पेशेवर शिक्षकों के समूह के रूप में जाने जाते थे। इनमें प्रोटेगोरस, हिप्पियास, एण्टिफोन, गार्जियास आदि प्रमुख सोफिस्ट चिन्तक थे।

सोफिस्टस ने अपने युग की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के अनुसार नैतिकता की व्याख्या करने का प्रयास किया। उस समय यूनान छोटे–छोटे स्वतन्त्र 'नगर–राज्यों' में विभक्त था जिनकी अलग–अलग सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वास थे। सोफिस्टस विचारकों के अनुसार किसी विचार अथवा सिद्धान्त के सत्य अथवा उचित होने की एकमात्र कसौटी उसकी व्यावहारिक उपयोगिता ही थी। वे ज्ञान, सद्गुण और नैतिकता को मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की सफलता के साधन रूप में देखते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने तत्कालीन यूनान में जिन नैतिक सिद्धान्तों को जन्म दिया वे इस प्रकार से थे :–

1. शुभ–अशुभ, उचित–अनुचित, सत्य–असत्य, सभी व्यक्तिसापेक्ष हैं–अर्थात् ये सभी व्यक्ति की इच्छाओं तथा भावनाओं पर निर्भर करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रोटैगोरस (सोफिस्ट दार्शनिक) का कथन था–"मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है।"
2. सत्य पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ है। मनुष्य के मन से स्वतन्त्र शुभ, सत्य व न्याय की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

3.1.1 सुकरात

यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात जिन्हें प्लेटो के गुरू के रूप में जाना जाता है का जन्म 470 ई. पू. एथेन्स (तत्कालीन यूनान का एक नगर–राज्य) के एक निर्धन परिवार में हुआ था। वह सत्य के खोजी थे; विध्यानुरागी थे। उन्होंने जीवन भर जिन सद्गुणों की शिक्षा दी उसे अपने आचरण में अभिव्यक्त भी किया। समाज में उनका सम्मान था। वह सादा जीवन व्यतीत करते थे, तथा बौद्धिक दृष्टि से उच्चकोटि के विद्वान तथा वाक्पटु थे। वह नवयुवकों का प्रशिक्षण वार्तालाप के माध्यम से करते थे जिससे भ्रमवश उन्हें सोफिस्टस समझने का प्रयास कर लिया जाता है परन्तु सुकरात का उद्देश्य सफल जीवन जीने की शिक्षा देना नहीं अपितु लोगों में 'ज्ञान' के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना और उन्हें सद्गुणी बनाना था। जीवन में सफलता को समझने के दो मार्ग हैं (1) भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति अर्थात सांसारिक सुख की प्राप्ति। (2) क्षणिक व अस्थायी वस्तुओं से परे स्थायी शाश्वत पूर्ण शुभ की प्राप्ति।

सोफिस्ट ने प्रथम मार्ग का चुनाव किया जबकि सुकरात ने द्वितीय पथ का चुनाव किया और प्लेटो

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

ने उसका पूर्ण अनुसरण किया। सुकरात सत्यभाषी, निर्भिक एवं आत्म–अनुशासिक थे जिनके दर्शन का उद्देश्य सार्वभौमिक सत्य की खोज करना था वह ज्ञान के प्रसार हेतु ही शिक्षा देते थे, परन्तु दुर्भाग्यवश तत्कालीन यूनान में उन पर नास्तिकता, देशद्रोह एवं नवयुवकों को पथ–भ्रष्ट करने का आरोप लगाया गया तथा अभियोग चलाकर उन्हे मृत्युदण्ड दिया गया। देश के कानून के प्रति एक नागरिक धर्म का निर्वाह करते हुए उन्होंने इस दण्ड को स्वीकार किया तथा इस प्रकार एक सच्चे दार्शनिक के जीवन का अन्त हुआ।

3.1.2 सुकरात की प्रमुख दार्शनिक समस्या

सुकरात के समय में ज्ञान, नैतिकता एवं राजनीति के क्षेत्र में बौद्धिक अराजकता फैली हुई थी। सोफिस्टस दार्शनिकों के ज्ञान, नैतिकता के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी विचार लोकप्रिय थे। सुकरात के समक्ष चुनौती, ज्ञान व आचरण की इस समस्या का समाधान ढूंढना था। उनका मानना था कि इस बौद्धिक अराजकता का कारण सत्य और ज्ञान के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं समझना है।

सुकरात की मानवीय बुद्धि में गहरी आस्था थी उन्होंने स्वीकारा कि मनुष्यों के अनुभव एवं विचारों में अनेकता और विविधता पायी जाती हैं, परन्तु इसमें एकता तथा सर्वमान्य निर्णय या धारणाओं को प्राप्त करने के लिए उन्होने जिस पद्धति को स्वीकार किया, वह वार्तालाप तथा प्रश्नोत्तर पर आधारित थी जिसे दर्शन शास्त्र में सुकराती पद्धति (Socratic Method) कहा जाता है।

3.1.3 सुकरात का ज्ञान एवं सद्‌गुण सम्बन्धी सिद्धान्त

सुकरात विधानुरागी थे परन्तु ज्ञान के प्रति उनका यह प्रेम मात्र सैद्धान्तिक नहीं था इसका व्यावहारिक पक्ष भी था। वह ज्ञान व आचरण की समस्या को एक ही मानते थे और उनका उद्देश्य लोगों को सद्‌गुणी बनाना था। सुकरात की नीतिमीमांसा का आधार उनकी ज्ञानमीमांसा है। उन्होने मनुष्य के लिए ज्ञान–प्राप्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया। वह मानते थे कि हमें जीवन व जगत के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान नहीं है। इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने से पहले हमें अपने अज्ञान का बोध होना चाहिए और अपने अज्ञान को जानते हुए निष्पक्षता से किसी विषय के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित विचारों को प्रस्तुत करते हुए सामान्य और सर्वमान्य परिभाषाओं अथवा अवधारणाओं को प्राप्त करना चाहिए। उन्होंने अवधारणात्मक अथवा सम्प्रत्ययात्मक ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान स्वीकारा। उनके अनुसार ज्ञान सिर्फ तथ्यों की जानकारी तक ही सीमित नहीं है अपितु शुभ–अशुभ, उचित–अनुचित, सत्य–असत्य, न्याय–अन्याय आदि के भेद को ठीक–ठीक समझना भी है। सुकरात, न्याय क्या है ?शुभ क्या है ?सौन्दर्य क्या है ? इत्यादि प्रश्न पूछते थे। इस प्रश्नोत्तर पद्धति के माध्यम से उन्होंने इन सम्प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त किया जो मनुष्य की बुद्धि से प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार बुद्धि ही मानव जीवन का संचालन करती है इसलिए यदि किसी को शुभ का बोध है तो वह अवश्य ही शुभ कार्य करेगा। उन्होंने ज्ञान को सद्‌गुण की आवश्यक एवं पर्याप्त शर्त स्वीकारा। प्रमुख कथन है 'सद्‌गुण ज्ञान है।'

सद्‌गुण ज्ञान है। सद्‌गुण सदैव शुभ कर्म करने की आदत के रूप में जाना जाता है जो चरित्र की उत्कृष्टता है। शुभ कर्म वह है जो मनुष्य के लिए उचित तथा वांछनीय होता है इसे कर्तव्य भी कहा जाता है। सद्‌गुण अभ्यासपूर्वक कर्तव्यपालन है। सुकरात के अनुसार सद्‌गुण ज्ञान की पूर्वापेक्षा रखता है। यदि कोई न्याय, शुभ, आत्मसंयम इत्यादि सद्‌गुणों के सच्चे स्वरूप व सार गुण को जानता है जो उसका आचरण अवश्य ही शुभ होगा। उन्होंने अधर्म या दुर्गुण का कारण अज्ञान को माना। उनका मानना था कि जानबूझकर कोई भी बुराई अथवा अधर्म नहीं करता।

सुकरात के उक्त सिद्धान्त की अरस्तु द्वारा की गयी समीक्षा के अनुसार सद्‌गुणी होने के लिए सद्‌गुणों का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, उसके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक है। यह संभव है कि कोई व्यक्ति सद्‌गुणों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी व्यावहारिक जीवन में सदैव उसके अनुसार आचरण न करें।

सद्‌गुण शिक्षणीय है।– सुकरात का मानना था कि सद्‌गुण सिखाया जा सकता है, क्योंकि सद्‌गुण और ज्ञान में तादात्म्य है। चूंकि ज्ञान अर्जित किया जाता है अतः सद्‌गुण भी शिक्षा द्वारा सिखाया जा सकता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सद्गुण एक है– सुकरात का मानना था कि सभी सद्गुण ज्ञानस्वरूप हैं, अतः वे इन्हें पृथक न मानकर परस्पर पूरक मानते थे और उनका एकत्व स्वीकार करते थे। विवेक, साहस, संयम और न्याय सभी सद्गुण ज्ञान के ही रूप हैं अतः इनमें कोई विरोध नहीं है। उनका यह सिद्धान्त सद्गुणों की एकता का सिद्धान्त कहलाता है।

सद्गुण व आनन्द– सुकरात ने सद्गुण व आनन्द को भी पृथक स्वीकार नहीं किया। उनका मानना था कि जहाँ सद्गुण हैं वहाँ आनन्द होगा। सुकरात ने सुख व आनन्द में भेद नहीं किया, परन्तु उनके परवर्ती दार्शनिक प्लेटो व अरस्तु ने बुद्धि के नियन्त्रण में, भावनात्मक पक्ष के सन्तुष्टि युक्त जीवन को आनन्दमय जीवन स्वीकारा।

3.02 प्लेटो एवं अरस्तु – मुख्य सद्गुण व मध्य मार्ग

3.2.1 प्लेटो (427–347 ई.पू.)

प्लेटो का जन्म ई.पू. 427 में एक सामंत परिवार में हुआ था। ई.पू. 407 में वह सुकरात का शिष्य बन गया और सुकरात की मृत्यु (ई.पू. 399) तक उनका अनुगामी बना रहा। सुकरात प्लेटो के जीवन का आदर्श पुरूष थे। सुकरात की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु से उन्हें इतनी ठेस पहुँची कि यूनानी प्रजातन्त्र के प्रति उनको घृणा सी हो गई। प्रथम राजनीतिज्ञ के रूप में उनको जीवन व्यतीत करने की इच्छा थी, परन्तु अपने धर्मगुरू सुकरात के उद्देश्यों को पूर्णता देने के लिए उन्होंने राजनीति का परित्याग कर नवयुवकों के सुधार का काम अपने हाथों में ले लिया। अपने जीवन के अन्तिम काल में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध संस्था जिम्नॉशियम (Gymnosium) अथवा एकेडमी (Academy) की स्थापना की और अपना शेष समय दर्शन के अध्ययन–अध्यापन में व्यतीत किया।

प्लेटो को ग्रीक दर्शन में आदर्शवादी एवं पूर्णतावादी विचारक के रूप में जाना जाता है। उन्होंने अपने पूर्वकाल के सभी विचारों को ध्यान में रखकर एक व्यवस्थित दर्शन तन्त्र प्रस्तुत किया जिसमें पूर्वकाल के विचारों का समन्वय तो है, परन्तु साथ ही एक मौलिक व श्रेष्ठ दर्शन भी है जो आज तक दर्शन के प्रेमियों की अक्षय निधि है। उसके दर्शन पर सर्वाधिक प्रभाव सुकरात का हैं उन्होंने सुकरात के सम्प्रत्ययों के सिद्धान्त (Doctrine of Concepts) को विज्ञानवाद (Theory of Ideas) के रूप में प्रस्तुत किया जिसके आधार पर वास्तविक ज्ञान के स्वरूप को तथा सुकरात के कथन 'सद्गुण ज्ञान है' को समझा जा सकता है।

3.2.2 मुख्य सद्गुण (Cardinal Virtues)

प्लेटो ने नैतिक आचरण के आधार रूप में 4 मूल सद्गुणों को स्वीकार किया जिन्हें मुख्य सद्गुण के रूप में जाना जाता है जो इस प्रकार से हैं–विवेक, साहस, संयम और न्याय।सद्गुणों के सम्बन्ध में व्याख्या करते हुए प्लेटो इन्हें राज्य और व्यक्ति दोनों के लिए आवश्यक मानते थे।

राज्य के सम्बन्ध में सद्गुण सिद्धान्त– प्लेटो ने राज्य के नागरिकों को तीन वर्गों में विभाजित किया प्रथम वर्ग में वे नागरिक आते हैं जो राज्य के प्रशासन का संचालन करते हैं और राज्य के सम्बन्ध में नीति निर्धारण करते हैं। प्लेटो ने इस वर्ग का विशेष सद्गुण 'विवेक' स्वीकार किया है। द्वितीय वर्ग में वे नागरिक आते हैं जिनका उत्तरदायित्व राज्य की आन्तरिक अव्यवस्था और बाह्य आक्रमण से रक्षा करना है। इन नागरिकों में प्रमुख रूप से – 'साहस' सद्गुण होना आवश्यक है। राज्य का तीसरा वर्ग व्यवसायी व उत्पादक वर्ग है। इन नागरिकों के परिश्रम पर ही राज्य की उन्नति व समृद्धि निर्भर है अतः इनमें 'संयम' सद्गुण नितान्त आवश्यक है। 'न्याय' सद्गुण को प्लेटो ने व्यापक सद्गुण के रूप में स्वीकार किया है जिसमें उपर्युक्त तीनों सद्गुणें का समावेश होता है जब राज्य के तीनों वर्गों के नागरिक सुव्यवस्था, सुरक्षा व समृद्धि के लिए सामन्जस्यपूर्ण ढंग से अपना–अपना कार्य करते हैं तो वह राज्य 'न्याय' सद्गुण से युक्त होता है।

व्यक्ति के सम्बन्ध में सद्गुण सिद्धान्त– राज्य की भांति व्यक्ति के कल्याण तथा आनन्दमय जीवन के लिए प्लेटो ने मुख्य सद्गुणों की वांछनीयता बताई है। व्यक्ति के स्वभाव के भी तीन पक्ष हैं–बुद्धि, संवेग, इच्छा। बुद्धि अर्थात् ज्ञानात्मक पक्ष का सद्गुण 'विवेक' है जो विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति का समुचित मार्गदर्शन करता है और इच्छा व संवेग को नियन्त्रित करता है। संवेग अर्थात् भावनात्मक पक्ष का

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सद्‌गुण 'साहस' है जो मनुष्य को सभी प्रकार के भय पर विजय प्राप्त करना सिखाता है। इच्छा का सम्बन्ध वासनात्मक पक्ष से है जिसका सद्‌गुण 'संयम' है जो वासनाओं पर उचित नियन्त्रण स्थापित करता है। जब व्यक्ति के तीनों पक्ष अपने–अपने सद्‌गुण के अनुसार समुचित कार्य करते हैं तो न्याय सद्‌गुण का उदय होता है। न्याय एक व्यापक सामाजिक सद्‌गुण है जिसमें अन्य सद्‌गुणों का भी समावेश हो जाता है।

जे.एन.सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'ए मेन्युअल ऑफ एथिक्स' में मुख्य सद्‌गुणों को विस्तृत कार्यों के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। विवेक सद्‌गुण के अन्तर्गत– चिन्तन, दूरदर्शिता, पूर्वदृष्टि एवं चुनाव की स्थिरता का समावेश होता है।

'साहस' सद्‌गुण के अन्तर्गत–वीरता व धैर्य दोनों शामिल हैं। वीरता सक्रिय साहस है जो दुःख की आशंका होने पर भी अपने मार्ग का ही अनुसरण करता है। 'धैर्य' निष्क्रिय साहस है जो अनिवार्य कष्ट को बिना हिचकिचाहट के सहन करता है।

'संयम' सद्‌गुण के अन्तर्गत–मनुष्य इन्द्रियों पर बुद्धि का नियन्त्रण रखता है एवं सभी प्रकार के प्रलोभनों का प्रतिरोध करता है। आत्म–त्याग व आत्म–संयम इसके अन्तर्गत आते हैं।

'न्याय' सद्‌गुण में प्रेम, शिष्टाचार, सच्चाई, प्रसन्नता व परोपकार सम्मिलित हैं।

सभी सद्‌गुण व्यावहारिक बुद्धिमता के विभिन्न रूप हैं तथा विवेक सद्‌गुण सबका आधार है। व्यक्ति व राज्य के सन्दर्भ में न्याय सर्वोच्च सद्‌गुण है। संतुलित व सामंजस्यपूर्ण जीवन का आदर्श इसी सद्‌गुण के चरितार्थ होने से प्राप्त किया जा सकता है।

3.2.3 अरस्तु

अरस्तु का जन्म ई.पू. 384 में यूनान के स्टेगिरा नगर में हुआ है। उनके पिता निकामैकस मेसीडोन–नरेश फिलिप के राजवैद्य थे। 17 वर्ष की आयु में उन्होंने प्लेटो की एकेडमी में प्रवेश लिया और बीस वर्ष तक प्लेटो के सानिध्य में रहे। मेसीडोन नरेश के पुत्र एलेक्जेण्डर (सिकन्दर) के वह 3 वर्ष शिक्षक रहे। उन्होंने एथेन्स में 'लाइसियम' नामक संस्था स्थापित की। ग्रीक दर्शन में प्लेटो के बाद अरस्तु को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह प्लेटो के शिष्य थे परन्तु उन्होंने स्वतंत्र रूप से सत्य का अनुसंधान किया और प्लेटो के मूल सिद्धान्त से सहमति रखते हुए अनेक विचारों को अस्वीकृत भी किया।

नीतिशास्त्र के क्षेत्र में उनका 'निकोमेकियन एथिक्स' पाश्चात्य नैतिक दर्शन का सर्वप्रथम व्यवस्थित ग्रन्थ माना जाता है। संतुलन, साम्य, सामंजस्य इत्यादि यूनानी आदर्शों में उनकी पूर्ण आस्था थी। नीति–विज्ञान में उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया।

3.2.4 सद्‌गुण मध्य मार्ग है (Virtue is the Golden Mean)

अरस्तु प्लेटो की भांति स्वीकार करते हैं कि बुद्धिसंगत व चिन्तनशील जीवन ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति कराता है जो मनुष्य के लिए अन्तिम शुभ है तथा इस प्रकार के जीवन व आनन्द की प्राप्ति सद्‌गुणों के अनुसार आचरण करने से होती है।

अरस्तु के अनुसार "सद्‌गुण मनुष्य की ऐसी स्थाई मानसिक अवस्था है जो निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप उसके ऐसे ऐच्छिक कर्म में अभिव्यक्त होती है, जिसे बुद्धि निर्धारित करती है।" इस प्रकार सद्‌गुण नैसर्गिक या जन्मजात प्रवत्ति न होकर अर्जित प्रवृत्ति है। जो अभ्यासपूर्वक कर्तव्यपालन का फल है तथा शुभ कार्य करने की आदत के रूप में इसे स्वीकारा जाता है।

अरस्तु के अनुसार सद्‌गुण का सम्बन्ध ऐच्छिक कर्म से है। ऐच्छिक कर्म वे होते हैं जिन्हें करने या नहीं करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार से ऐच्छिक कर्म इच्छा या भावना से निर्धारित न होकर बुद्धि से निर्धारित होते हैं। अरस्तु के अनुसार मनुष्य में बौद्धिक व अबौद्धिक (भावनात्मक) पक्ष होते हैं तथा सद्‌गुण मनुष्य के इस भावनात्मक पक्ष को बुद्धि से नियन्त्रित करता है। मनुष्य की प्रवृत्ति, संवेग तथा वासनाओं पर उचित नियन्त्रण ही सद्‌गुण का उद्देश्य है।

अरस्तु के अनुसार सद्‌गुण "आपेक्षिक मध्यावस्था (Relative Mean) को ग्रहण करने का अभ्यास है, जिसके रूप को बुद्धि और व्यावहारिक ज्ञान निश्चित करते हैं।"

सद्‌गुण चुनाव की आदत है जो निरन्तर तटस्थता अथवा निष्पक्षता के अभ्यास से प्राप्त होती है

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

इसका लक्षण संयम है अर्थात् वासनाओं, प्रवृत्ति व संवेगों पर बुद्धि का नियन्त्रण है। यह प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति व योग्यताओं के सापेक्ष मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है। इसका निर्धारण करने में संभव है कि मनुष्य में व्यावहारिक बुद्धिमता के उचित प्रयोग का अभ्यास नहीं, हो अतः यह दूरदर्शी मनुष्यों की बुद्धि द्वारा निर्धारित किया जाता है।

अरस्तु ने सद्‌गुणों को बौद्धिक एवं नैतिक दो रूपों में बाँटा है परन्तु नैतिक सद्‌गुण का संदर्भ तटस्थ भाव से परम तत्त्व के ज्ञान से है। नैतिक जीवन में भाव, संवेग, वासनाएं इत्यादि होते हैं जिन पर विवेक का उचित नियंत्रण वांछनीय है। इस प्रकार के अभ्यास से ही नैतिक सद्‌गुणों का विकास होता है। यहाँ अरस्तु के मध्यम मार्ग को संतुलित आचार के मार्ग के रूप में उसे समझा जा सकता है। मनुष्य में बौद्धिक व अबौद्धिक दो पक्ष हैं जिनमें संतुलित बौद्धिक पक्ष का मार्गदर्शन भी आवश्यक है। अरस्तु न तो वासनाओं के उन्मूलन को कहता है ना ही वासनाओं की सन्तुष्टि मात्र को नैतिक स्वीकारता है। भवनात्मक पक्ष पर बुद्धि के नियन्त्रण के अभ्यास से हम अत्यधिक एवं अत्यल्प के दोषों से बचते हैं क्योंकि इन दोनों दोषों मे अनुभूति व क्रिया का उचित परिमाण नहीं है। साहस न तो कायरता है और ना ही दुस्साहस है। दानशीलता न तो फिजूलखर्ची है और ना ही कृपणता है। अरस्तु इस मध्यम मार्ग से भिन्न है। यह हर व्यक्ति या हर परिस्थिति में एक सा नहीं स्वीकारा जा सकता है जैसे सैनिक के लिए साहस दुस्साहस की ओर अधिक झुकाव रखता है। यह व्यक्ति की योग्यता, स्वभाव और परिस्थितियों की आपेक्षिक मध्यावस्था का चुनाव है। विभिन्न व्यक्तियों की मध्य दशा भिन्न–भिन्न होती है। यह बुद्धि द्वारा परिस्थितियों के अनुसार निश्चित किया जाता है।

निकोमेकियन एथिक्स की विशेषता यह है कि इसके निष्कर्ष किसी अतिन्द्रिय ज्ञान के ऊपर आधारित न होकर मानव जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव और विश्लेषण पर ही आधारित है। मानव आत्मा के बौद्धिक और अबौद्धिक दोनों भागों में सामंजस्य द्वारा सन्तुलित जीवन की बात की गई है। मनुष्य की सभी क्रियाओं का उद्देश्य परम शुभ या आनन्द की प्राप्ति है जिसे अरस्तु ने यूडेमोनिया कहा है। यह विचारमय जीवन व्यतीत करने से प्राप्त होता है।

3.2.5 इमैन्युअल काण्ट (1724–1804)

पाश्चात्य नैतिक दर्शन में काण्ट आधुनिक युग के महत्वपूर्ण दार्शनिक माने जाते हैं। उनका जन्म जर्मनी के एक नगर कोनिग्जबर्ग में हुआ था। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन इसी नगर के आसपास व्यतीत किया। काण्ट एक प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक थे साथ ही उन्हें पदार्थ विज्ञान, खगोल विज्ञान व भूगोल का भी पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने वर्षों तक कोनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। काण्ट का जीवन बहुत सरल एवं अनुशासित था। वह वक्त का बड़ा पाबन्द थे। उन्हें प्रत्येक कार्य समय पर करने की आदत थी। वे जीवन में भावनाओं और इच्छाओं की अपेक्षा बुद्धि को महत्वपूर्ण मानते थे और उनकी इस जीवन पद्धति का उनके नैतिक दर्शन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

हमने पूर्व में प्लेटो व अरस्तु के नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया। ये दोंनो दार्शनिक मानव जीवन में बुद्धि के महत्व को स्वीकार करते थे परन्तु मनुष्य स्वभाव के भावनात्मक पक्ष जिसमें संवेग व इच्छाएँ आदि हैं, के संयमित भोग को ही उचित मानते थे। काण्ट भी यूनानी दार्शनिकों की तरह मानव स्वभाव में बौद्धिक व भावनात्मक पक्ष का द्वैत स्वीकारते थे परन्तु नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि से ही मानते थे। मनुष्य की भावना, संवेग व इच्छा को काण्ट नैतिकता के क्षेत्र में स्वीकार नहीं करते थे इसलिए उसका सिद्धान्त कठोर बुद्धिवाद कहलाता है।

3.03 काण्ट – कर्तव्य के लिए कर्तव्य

काण्ट का नैतिक सिद्धान्त 'निरपेक्ष आदेश' का सिद्धान्त कहलाता है क्योंकि इस सिद्धान्त में कर्म को उचित तभी कहा जाता है जब वह शुद्ध कर्तव्यपालन के विचार से किया गया होता है। किसी कर्म का मूल्यांकन उससे प्राप्त परिणाम की दृष्टि से स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार काण्ट ने नैतिकता का परिणाम निरपेक्षवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

काण्ट के द्वारा इस प्रकार का सिद्धान्त प्रस्तुत करने के मूल में यह विचार था कि मनुष्य की इच्छाएँ, भावनाएँ एवं प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील होती हैं। इनका आधार इन्द्रिय अनुभव होता है। इन्द्रिय

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अनुभव पर आधारित नियम सीमित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एवं तात्कालिक मांग के अनुरूप होते हैं। नैतिक क्षेत्र में इस प्रकार के नियमों से शुभ कार्यों हेतु सार्वभौमिक मार्गदर्शन प्राप्त नहीं हो सकता।

नैतिकता के क्षेत्र में ऐसे नियम ही होने चाहिए जो सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत हों। इस सार्वभौमिकता के लिए उनका मनुष्य की बुद्धि पर आधारित होना ही आवश्यक है क्योंकि मानवीय बुद्धि ही इस प्रकार के नैतिक नियम दे सकती है जिन्हें नैतिकता के सर्वोच्च नियम के रूप में स्वीकारा जा सकता है।

नैतिकता के सर्वोच्च नियम को स्थापित करने की दिशा में काण्ट का पहला प्रश्न था—कौन सी ऐसी वस्तु है जो अपने आप में शुभ है। हमने पहले अध्याय में जाना कि मूल्य दो प्रकार के होते हैं साधन मूल्य और साध्य मूल्य। ठीक उसी प्रकार कुछ वस्तुएँ देश, काल, परिणाम, परिस्थिति की अपेक्षा से शुभ होती है परन्तु अपने आप में शुभ स्वतःसिद्ध साध्य होता है अर्थात् उसे किसी अपेक्षा से, किसी परिणाम की आशा से मूल्यवान नहीं कहा जाता। अप्रतिबन्धित (unconditional) शुभ बिना किसी शर्त के होता है। काण्ट का निष्कर्ष था कि 'शुभ संकल्प' (Goodwill) ही एकमात्र ऐसा शुभ है जो अपने आप में शुभ है जिसे स्वतः साध्य कहा जा सकता है। इसका शुभ होना देश, काल, परिस्थिति, परिणाम पर निर्भर नहीं करता यह सर्वदा व सर्वत्र शुभ होता है। काण्ट ने यद्यपि शुभ संकल्प की निश्चित परिभाषा प्रस्तुत नहीं की परन्तु काण्ट के विचार के आधार पर इसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—

"शुभ संकल्प विशुद्ध कर्तव्य चेतना पर आधरित संकल्प है जिसका उद्गम भावना न होकर बुद्धि है और यह अभ्यास के द्वारा किया गया उचित संकल्प है।" संकल्प दृढ़ निश्चय को कहते हैं और मनुष्य स्वभाव में संवेग, भावनाएँ एवं इच्छाएँ बौद्धिक संकल्प की पूर्ति में बाधा का कार्य करते हैं इसलिए कर्तव्य पालन की बाध्यता को आवश्यक माना गया है। यह कर्तव्य पालन की बाध्यता स्वयं के ऊपर नैतिक नियम या कर्तव्य के प्रति सम्मान के कारण स्वीकारी जाती है और मनुष्य अपने भावनात्मक पक्ष से निरपेक्ष या स्वतंत्र रहते हुए जब शुभ संकल्प के अनुसार कर्म करता है तो वह नैतिक कर्म होता है।

काण्ट का मानना था कि यदि मनुष्य पूर्णतः बौद्धिक प्राणी होता तो उसके शुभ संकल्प के मार्ग में इच्छाएँ, भावनाएँ एवं प्रवृत्तियाँ कभी बाधा नहीं डालती। ऐसी स्थिति में बिना प्रयास के वह शुभ संकल्प करता परन्तु मनुष्य पूर्ण बौद्धिक नहीं है इसलिए कर्तव्य की चेतना द्वारा बाध्य होकर ही वह शुभ संकल्प के अनुसार कर्म करता है।

पूर्णरूपेण शुभ संकल्प सिर्फ ईश्वर का हो सकता है क्योंकि काण्ट के अनुसार वह पूर्ण बौद्धिक है। शुभ संकल्प की अभिव्यक्ति बिना किसी प्रयास के स्वतः होती है इसलिए ईश्वर का संकल्प 'पवित्र संकल्प' कहलाता है।

काण्ट का निरपेक्ष आदेश का सिद्धान्त कर्तव्यपालन की चेतना पर आधारित है जिसमें कर्तव्य उस कर्म को करने की अनिवार्यता है जो कर्म नैतिक नियम या सिद्धान्त के प्रति सम्मान की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है। यदि प्रश्न किया जाय कि कर्त्तव्य का पालन क्यों किया जाए ?तो उत्तर है 'कर्त्तव्य के लिए'।

'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' एक आकारिक सिद्धान्त है जिसमें किसी कर्म को सभी विवेकशील व्यक्तियों के लिए समान परिस्थिति में समान रूप से लागू होने की अनिवार्यता के साथ स्वीकारा जाता है। किसी परिस्थिति विशेष में यदि कोई कर्म हमारा कर्त्तव्य है तो इसका अर्थ है कि सभी विवेकशील प्राणी भी इसी प्रकार से इसे स्वीकारने की स्वतन्त्र इच्छा रखते हैं। इस सिद्धान्त में किसी परिणाम, परिस्थिति, उद्देश्य या रूचि के दृष्टिकोण से नियम नहीं स्वीकारा जाता है उसका नैतिक मूल्य सिर्फ 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' के रूप में स्वीकार करने से है। इसे समझने के लिए हम मानवीय कर्मों की तीन परिस्थितियों पर विचार कर सकते हैं :—

1) किसी कर्म को हम तात्कालिक संवेग, इच्छा से प्रेरित होकर करते हैं।
(2) किसी कर्म को अपने हित के लिए सोच समझकर करते हैं।
(3) किसी कर्म को केवल कर्त्तव्य पालन की चेतना से प्रेरित होकर करते हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

उपर्युक्त तीनों परिस्थितियों में काण्ट सिर्फ तीसरी स्थिति में किये जाने वाले कर्मों को नैतिक मानता है। शेष दोनों के नैतिक मूल्य को वह स्वीकार नहीं करता। वह मनुष्य के स्वार्थपरक संवेगों पर आधारित कर्मों को ही नैतिक दृष्टि से अस्वीकृत नहीं करता अपितु दया, प्रेम, सहानुभूति जैसे रचनात्मक संवेगों पर आधारित कर्मों को भी नैतिक नहीं स्वीकारता। अपने नैतिक सिद्धान्त में वह मनुष्य के सभी प्रकार के संवेगों व भावनाओं की पूर्ण उपेक्षा करता है इसलिए उसका सिद्धान्त कठोर नैतिक सिद्धान्त कहलाता है।

काण्ट नैतिक नियम की सर्वोच्चता को स्वीकारते हुए मानते हैं कि यह मनुष्य द्वारा कर्त्तव्य पालन की चेतना से प्रेरित होकर आदेश के रूप में स्वीकार किया जाता है इसलिए उन्होंने इसे निरपेक्ष आदेश की संज्ञा दी।

बहुविकल्पात्मक प्रश्न

(1) 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है।' किसका कथन है।
(अ) सुकरात (ब) प्लेटो (स) प्रोटेगोरस (द) अरस्तु

(2) प्लेटो के गुरू थे–
(अ) प्रोटेगोरस (ब) गोर्जियस (स) सोफिस्ट (द) सुकरात

(3) सुकरात ने किस प्रकार के ज्ञान को स्वीकारा–
(अ) व्यक्तिगत (ब) इन्द्रिय प्रत्यक्ष (स) सम्प्रत्ययात्मक (द) कल्पना आधारित

(4) प्लेटो, मनुष्य स्वभाव में स्वीकारते है–
(अ) बुद्धि, इच्छा, संवेग (ब) सिर्फ बुद्धि
(स) इच्छा व संवेग (द) सिर्फ संवेग

(5) अरस्तु के अनुसार ऐच्छिक कर्म का निर्धारण होता है–
(अ) इच्छा से (ब) कल्पना से (स) बुद्धि से (द) स्वभावत :

(6) संयम सद्‌गुण का अर्थ है–
(अ) भावनात्मक पक्ष पर नियन्त्रण (ब) बुद्धि पर नियन्त्रण
(स) उक्त दोनों पर नियन्त्रण (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(7) काण्ट नैतिक निर्णयों का सम्बन्ध मानते हैं–
(अ) भावना से (ब) परिणाम से (स) सिर्फ बुद्धि से (द) भावना व बुद्धि दोनों से

(8) सद्‌गुणों के मध्यम मार्ग का सिद्धान्त दिया–
(अ) अरस्तु (ब) काण्ट (स) प्लेटो (द) सुकरात

(9) 'सद्‌गुण ज्ञान है।' इसे कौन स्वीकार करता है–
(अ) प्लेटो (ब) सुकरात (स) अरस्तु (द) कोई नहीं

(10) प्लेटो के मुख्य सद्‌गुणों की धारणा है–
(अ) व्यक्ति के संदर्भ में (ब) राज्य के संदर्भ में
(स) उक्त दोनों के संदर्भ में (द) प्रत्ययों के संदर्भ में

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) 'सद्‌गुण ज्ञान है।' किसने कहा?
(2) मुख्य सद्‌गुणों के नाम लिखिये।
(3) सुकराती पद्धति क्या है?
(4) कर्तव्य क्या है?
(5) सद्‌गुण क्या है?
(6) ऐच्छिक कर्म क्या है?
(7) अरस्तु की नीतिशास्त्र पर पुस्तक का नाम क्या है?
(8) यूडेमोनिज्म क्या है?
(9) विवेक सद्‌गुण क्या है?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(10) मनुष्य स्वभाव के दो पक्ष कौनसे है?
(11) परिणाम निरपेक्ष नैतिक सिद्धान्त किसे कहते है?
(12) काण्ट का सिद्धान्त कठोर बुद्धिवादी सिद्धान्त क्यों कहलाता है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) सुकरात की दार्शनिक समस्या क्या थी?
(2) सद्‌गुणों की एकता का सिद्धान्त क्या है?
(3) विवेक सद्‌गुण को व्यक्ति व राज्य के संदर्भ में स्पष्ट कीजिये।
(4) न्याय सद्‌गुण का अन्य मुख्य सद्‌गुणों से क्या संबंध है?
(5) अरस्तु के अनुसार साहस सद्‌गुण क्या है?
(6) प्लेटो व अरस्तु के अनुसार आदर्श जीवन क्या है?
(7) संयम सद्‌गुण को समझाइये।
(8) शुभ संकल्प को समझाइये।
(9) शुभ संकल्प व पवित्र संकल्प में अन्तर समझाइये।
(10) निरपेक्ष आदेश क्या है?

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) सुकरात के 'सद्‌गुण ज्ञान है।' सिद्धान्त को समझाइये।
(2) प्लेटो के अनुसार मुख्य सद्‌गुणों का वर्णन कीजिये।
(3) अरस्तु के अनुसार 'सद्‌गुण मध्य मार्ग है।' को समझाइये।
(4) काण्ट के 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

4

व्यक्ति और समाज

नीतिशास्त्र का अध्ययन करने पर आपने पिछले अध्यायों में जाना कि यह सामाजिक जीवन जीने वाले मनुष्यों के आचरण के मूल्यांकन के लिए मापदण्डों की स्थापना करता है। समाज के अभाव में हम मनुष्य का विचार तो कर सकते है परन्तु उसके आचरण की बात समाज में रहते हुए ही की जा सकती है। आचरण मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों से बनता है। ऐच्छिक कर्म वे कर्म हैं जिनका चुनाव व्यक्ति अपने स्वतंत्र विवेक से करता है। कर्म के चुनाव, कर्तव्य, चरित्र, नैतिक उत्तरदायित्व इत्यादि चर्चाएँ तभी की जा सकती है जब मनुष्य सामाजिक जीवन व्यतीत करे। अरस्तु ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में वह लिखता है – ''जो मनुष्य समाज में नहीं रहता वह वास्तव में मनुष्य न होकर या तो पशु है या देवता।''

हम विज्ञान की पुस्तकों में पढ़ते है कि पशुओं व अन्य जीवों में भी समूह में रहने की प्रवृत्ति होती है परन्तु उन्हें नैतिक कर्ता नहीं कहा जाता है क्योंकि कर्म करने अथवा नहीं करने के स्वतन्त्र विवेक की शक्ति उनमें नहीं होती। वे सहज **(Instinctive)** व्यवहार करते है परन्तु मनुष्य सोच समझकर व्यवहार करता है।

व्यक्ति और समाज का संबंध घनिष्ठ माना जाता है। समाज व्यक्तियों से ही बनता है परन्तु समाज से अलग उसका एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी होता है। यह व्यक्तित्व समाज के अभाव में विकसित नहीं हो सकता है परन्तु न तो व्यक्ति को समाज का साधन मात्र समझा जा सकता है और न ही उसके किसी ऐसे कर्म को जो समाज के हित के लिये नुकसानदेह हो को उचित माना जा सकता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र में भी अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक संबंध का अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति एवं समाज के इस संबंध में अधिकार एवं कर्तव्यों का विचार सर्वप्रमुख है क्योंकि इनके मध्य संघर्ष एक व्यावहारिक समस्या है जिसका सम्पूर्ण समाधान कानून से नहीं किया जा सकता। कानून के निर्धारण, कानून के प्रति सम्मान और व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित में संघर्ष के समाधान के लिए अधिकार एवं कर्तव्यों के स्वरूप पर विचार, मनुष्य की संकल्प की स्वतंत्रता व नैतिक उत्तरदायित्व की धारणाओं तथा दण्ड के सिद्धान्तों के बारे में जानना जरूरी है। इस अध्याय में इन्हीं का अध्ययन किया जायेगा जो व्यावहारिक नीतिशास्त्र का क्षेत्र है। व्यावहारिक नीतिशास्त्र हमें जीवन की समस्याओं के समाधान हेतु मार्गदर्शन देता है।

4.01 अधिकार एवं कर्तव्य

व्यक्ति अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए समाज पर निर्भर होता है साथ ही समाज व्यक्तियों के विकास से उन्नत व समृद्ध होता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि व्यक्ति एवं समाज न सिर्फ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है अपितु परस्पर निर्भर भी हैं। यह निर्भरता ही अधिकार व कर्तव्य की धारणा है। अधिकार वह न्यायसंगत व उचित मांग है जो व्यक्ति को अपने नैसर्गिक विकास के लिए आवश्यक होती है, और कर्तव्य, समाज को बनाए रखने के लिए व, इस अधिकार की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए व्यक्ति की जिम्मेदारी है।

अधिकार और कर्तव्य सापेक्ष धारणाएँ हैं जिनका सार्थक विचार समाज के ही संदर्भ में है। समाज और व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तभी सम्भव है जब अधिकार एवं कर्तव्यों में संतुलन हो। एक नैतिक रूप

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

से विकसित समाज अपने सदस्यों की उचित मांगे स्वीकार भी करता है और कर्तव्य पालन की अपेक्षा भी करता है। इस प्रकार कर्तव्य व अधिकार परस्पर सम्बन्धित मालूम होते है। इनके सम्बन्ध को जानने से पूर्व इनके स्वरूप व प्रकार पर चर्चा आवश्यक है।

4.1.1 अधिकार

''अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत, व्यक्तियों की वे उचित माँगे हैं जो उसके स्वतन्त्र विकास हेतु आवश्यक है।''

यहाँ स्वतन्त्र विकास का अर्थ शर्तहीनता नहीं है। प्रत्येक समाज कुछ शर्तों के आधार पर ही अधिकार देता है। यदि बिना किसी शर्त के सिर्फ अधिकार दे दियें जाय तो समाज नामक संस्था स्वयं ही ध्वस्त हो जायेगी और समाज का नष्ट होना व्यक्ति के विकास एवं जीवन की रक्षा के प्रति ही खतरा बन जायेगा। अधिकार किसी समाज के नागरिकों की उचित माँगे है परन्तु ये सामाजिक हित के प्रतिकूल नहीं हो सकते। समाज में अनेक सदस्य होते है। सभी की इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं रूचियों में भेद होता है परन्तु ऐसी इच्छाएँ, रूचियाँ या महत्त्वकांक्षाऐं जो दूसरे लोगो के जीवन के प्रतिकूल हो वे स्वीकार नहीं की जा सकती। इस प्रकार की अनुमति समाज के लिए आत्मघाती कदम होगा। अतः उचित यही है कि व्यक्ति को वही करने की अनुमति हो जो सभी सदस्यों व समाज के हित में अनुकूल हो। अकेले व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता। अधिकार हमेशा समाज के सदस्य के रूप में ही प्रदान किये जाते है इसलिए आवश्यक है कि अधिकारों का प्रयोग सामान्य हित अथवा समाज के हित में ही किया जाए। हमें अधिकारों की स्वतंत्रता है स्वच्छंदता नहीं। व्यक्ति को अपने विवेक का इस्तेमाल करते हुए औचित्यपूर्ण ढंग से ही अपने अधिकारों का उपयोग करना चाहिए यही उसका नागरिक धर्म है। जैसे – भारत के नागरिक होने के नाते हमें यहाँ की सार्वजनिक सम्पत्ति का इस्तेमाल करने का अधिकार है परन्तु इस्तेमाल करते समय इसे क्षति या नुकसान नहीं पहुँचे यह भी हमे ध्यान रखना चाहिए। इससे अन्य लोगों को भी इस अधिकार का प्रयोग करने को मिलेगा और हमें भी भविष्य में ये अच्छी अवस्था में प्रयोग करने हेतु प्राप्त होते रहेंगे।

समाज में हमे जो अधिकार प्राप्त होते है उन्हें दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है –

(1) कानूनी अधिकार (2) नैतिक अधिकार

राज्य लोगों के विकास एवं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कुछ अधिकारों को कानून का रूप देता है जिनका उल्लघंन करने पर दण्ड की व्यवस्था होती है। ये कानूनी अधिकार होते है। जैसे शोषण के विरूद्ध अधिकार। परन्तु सभी अधिकारों को कानूनी रूप देना सम्भव भी नहीं होता ना ही यह हमारी गरिमा के अनुकूल है। हम नैतिक प्राणी है इसलिए हमें नियमों का पालन अपनी आन्तरिक इच्छा से भी करना चाहिए। नैतिक अधिकार वे अधिकार है जो सामाज द्वारा स्वीकृत होते है इनके लिए कोई कानून या दण्ड का प्रावधान नहीं होता। मनुष्य का अन्तर्विवेक और सामाजिक निंदा का भय ही इनका पालन करवाता है। जैसे वृद्ध माता पिता द्वारा अपने बच्चों से देखभाल का अधिकार।

4.1.2 मूल अधिकार

मूल अधिकार वे अधिकार है जिनसे वंचित करने पर व्यक्ति न तो अपना विकास कर सकता है और न ही समाज के कल्याण में कोई योगदान कर सकता है। अधिकतर विचारक इन अधिकारों को स्वीकार करते है। इन अधिकारों को मौलिक नैतिक अधिकार कहा जाता है। वैधानिक या कानूनी अधिकारों के रूप में भी इन्हें स्वीकारा जाता है।

(1) जीने का अधिकार (Right to live) - किसी भी नैतिक समाज में यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति को जीवन जीने से वंचित नहीं किया जाए। यह प्राथमिक अधिकार है इसे प्राप्त करके ही व्यक्ति अपना विकास तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति कर सकता है। जीने का अधिकार, आत्महत्या व हत्या दोनों को अनुचित मानना है।

(2) स्वतंत्रता का अधिकार (Right of freedom) - जीवन का होना मात्र ही विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। इसे अपने सर्वांगीण विकास के लिए इच्छा स्वातन्त्रय का प्रयोग करने का अवसर मिलना चाहिए। इच्छा स्वातंत्रय मनमर्जी नहीं है। यह सीमित स्वतन्त्रता है जो एक सुव्यवस्थित राज्य में वही तक होती है जहाँ दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित न हो।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(3) संपत्ति का अधिकार (Right of Property) - प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है अतः उसे उचित सीमा तक सम्पत्ति अर्जित करने एवं स्वामित्व का अवसर मिलना चाहिए। इस अधिकार का प्रतिबंध सामाजिक कल्याण तथा ईमानदारी से धन कमाने के नैतिक कर्तव्यों से जुड़ा है।

(4) समझौते की पूर्ति का अधिकार (Right of Contract) - निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार सामाजिक कर्तव्यों के पालन से जुड़ा है। जब हम समाज में रहकर अपन विकास करते है तो पारस्परिक समझौते के अनुसार रहना होता है जिसमें कठिनाई की स्थिति में समर्थ व्यक्ति से उचित समय पर सहायता प्राप्त करने का अधिकार होता है।

(5) शिक्षा का अधिकार – (Right to Education) - शिक्षा ही वह साधन है जिससे मनुष्य अपनी क्षमताओं का विकास एवं सदुपयोग कर सकता है। अतः अपनी संभावनाओं के अनुरूप मनुष्य को बौद्धिक विकास का अवसर मिलना नैतिक अधिकार है।

4.1.3 कर्तव्य

''कर्तव्य वे उचित कर्म कहे जाते हैं जिन्हें करने के लिए मनुष्य बाध्यता का अनुभव करता है।''

कर्तव्यों का अधिकारों से सम्बन्ध है इसलिए कर्तव्य को समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्तियों के ऋण के रूप में भी माना जाता है। हमें अपने सर्वांगीण विकास का अवसर जिस समाज में मिलता है वहाँ अधिकारों का उपभोग को करते हुए कुछ नैतिक बाध्यताओं का भी अनुभव किया जाता है। ये नैतिक बाध्यताएँ हमारी स्वाभाविक इच्छा से प्रेरित नहीं होती इनका पालन करने का हमें अभ्यास करना पड़ता है। कर्तव्यों के पालन का प्रभाव कर्ता के बजाय अन्य व्यक्ति या समाज पर पड़ता है परन्तु कर्तव्य पालन करने पर हमें सन्तोष का अनुभव होता है अतः कर्तव्य पालन के प्रति हमारे मन में नैतिक अनुमोदन की भावना होती है और जब हम कर्तव्य पालन में असफल होते है तो इस नैतिक अनुमोदन की भावना का अभाव होता है तथा नैतिक रूप से संवेदनशील व्यक्ति में आत्मग्लानि भी होती है।

समाज में हमारे लिए कई उचित कर्म होते हैं परन्तु सभी को करने के लिए हम बाध्य नहीं होते। कर्तव्य व उचित कर्म में यही भेद है कि कर्तव्य उचित कर्म होने के साथ बाध्यकारी भी होते हैं। जबकि वे उचित कर्म जो बाध्यकारी नहीं होते उन्हें कर्तव्य नहीं कहा जाता। किसी परिस्थति में दो या दो से अधिक कर्म करना मनुष्य के लिए उचित हो सकता है परन्तु किसी समय विशेष में कर्तव्य सिर्फ एक ही होता है। कभी–कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे कर्तव्यों में संघर्ष होता है, जैसे सत्य बोलना भी हमारा कर्तव्य है तथा किसी की जान बचाना भी हमारा कर्तव्य है यदि दोनों में संघर्ष हो तो चयन मुश्किल हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में कोई निश्चित नियम बनाकर समाधान नहीं ढूंढा जा सकता है क्योंकि मानवीय परिस्थितियाँ बहुत जटिल होती हैं परन्तु व्यक्तिगत राग–द्वेष छोडकर तटस्थता के साथ व्यापक सामाजिक हित एवं विवेकपूर्ण अन्तदृष्टि से कर्तव्य का निर्धारण किया जा सकता है।

4.1.4 मूल कर्तव्य

मूल नैतिक अधिकारों की भाँति कुछ मूल कर्तव्यों को भी स्वीकारा जाता है जो इस प्रकार से है

(1) जीवन का सम्मान – प्रत्येक व्यक्ति को अपने एवं दूसरों के जीवन का सम्मान करना चाहिए। इस दृष्टि से आत्महत्या एवं हत्या दोनों अनैतिक कर्म है।

(2) स्वतंत्रता का सम्मान – हमें अपनी स्वतंत्रता के साथ दूसरों की स्वतंत्रता का सम्मान भी करना चाहिए। काण्ट के अनुसार मनुष्यता को साध्य मानना चाहिए कभी भी साधन नहीं बनाना चाहिए। इस दृष्टि से किसी को दास बनाना शोषण करना अनैतिक है।

(3) सम्पत्ति का सम्मान – हमे जिस प्रकार अपने निजी धन के उपयोग का अधिकार है। ऐसे ही दूसरों की सम्पत्ति को छल या चोरी से प्राप्त न करना हमारा नैतिक कर्तव्य है।

(4) सामाजिक व्यवस्था का सम्मान – हमे सामाजिक व्यवस्था अधिकार प्रदान करती है इसलिए इस व्यवस्था एवं इसकी संस्थाओं को बनाये रखने में सहयोग करना हमारा कर्तव्य है

(5) सत्य का सम्मान – प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक दायित्व है कि वह सत्यभाषी हो, मिथ्या भाषण न

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

करे। इस प्रकार का आचरण उसके विचार, वचन व कर्म का सामान्जस्य प्रदान करेगा और समाज में सकारात्मक योगदान होगा।

(6) प्रगति में सम्मान – मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है कि वह स्वयं की एवं समाज की प्रगति में आस्था रखने के साथ इस हेतु प्रयास भी करे।

इस प्रकार से कुछ मूल कर्तव्यों पर विचार किया जा सकता है परन्तु इन्हें निश्चित करना संभव नहीं है। सामान्य परिस्थितियों में प्रत्येक समय और स्थान पर कुछ कर्तव्य सभी मनुष्यों के लिए अनिवार्य स्वीकारे जाते है जैसे – सत्य बोलना, चोरी न करना, वचन पूरा करना, सबके प्रति करूणा व स्नेह रखना आदि, ये सार्वभौमिक कर्तव्य कहलाते हैं। इनका उल्लंघन सिर्फ विशेष परिस्थिति में ही स्वीकार्य होता है।

4.1.5 अधिकारों एवं कर्तव्यों में सम्बन्ध

कर्तव्य व अधिकार दोनों की सार्थकता सामाजिक जीवन पर निर्भर है। समाज से अलग न अधिकार की बात की जा सकती है और न ही कर्तव्यों को समझा जा सकता है। कर्तव्य व अधिकार परस्पर पूरक हैं। प्रत्येक अधिकार अपने साथ बाध्यता लाता है। जैसे यदि हमें सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार है तो यह बाध्यता भी है कि हम दूसरों की सम्पत्ति छल से प्राप्त न करें। यदि विचारों को अभिव्यक्त करने का अधिकार प्राप्त होता है तो यह भी नैतिक बाध्यता है कि हम दूसरों के विचार व भावनाओं का भी आदर करें। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य अलग–अलग करके नहीं देखे जा सकते । जहाँ एक अधिकार हमें प्राप्त होता है तो उसकी रक्षा करना दूसरे के लिए कर्तव्य हो जाता है तथा दूसरे का जहाँ अधिकार होता है उसका सम्मान करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। अधिकार व कर्तव्य एक दूसरे पर आश्रित हैं परन्तु ऐसा नहीं है कि हम कर्तव्यों के लिए अधिकारों की बलि दे दें। कुछ मूल अधिकार ऐसे है जिनका उपयोग करके हम अपना स्वतन्त्र एवं गरिमापूर्ण विकास कर सकते हैं। यदि हम अपनी स्वतंत्रता व गरिमा का हक प्राप्त नहीं कर सकते तो समाज के समुचित विकास में अपना वास्तविक योगदान भी नहीं दे पाते। समाज में अन्याय व शोषण का सहयोगी बनते हुए इन्हें सहन करते हुए जीवन जीना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

कर्तव्य व अधिकार में घनिष्ठ संबंध हैं परन्तु उनमें भेद भी हैं। कर्तव्य का उद्‌देश्य अपना हित नहीं है दूसरों का हित है। कर्तव्य समाज द्वारा व्यक्ति से ऐसे कार्यों की मांग है जिसमें वह स्वेच्छा से अपनी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों पर बंधन लगाता है, उन्हें सीमित करता है। जबकि अधिकार स्वयं के हित से सम्बन्धित है जो अपने विकास के लिए समाज से की गई उचित मांग है।

4.02 संकल्प की स्वतन्त्रता एवं नैतिक उत्तरदायित्व

अधिकार एवं कर्तव्यों की बात मनुष्यों के संदर्भ में ही प्रमुखतः विचार की जाती है। यद्यपि हम पशु अधिकार (Animal right) की चर्चा भी समाज में पाते हैं परन्तु पशुओं के सम्बन्ध में कर्तव्यों की बात नहीं की जाती। ऐसा क्यों है?दरअसल मनुष्य ही वह एकमात्र प्राणी है जिसे नैतिक कर्ता कहा जाता है जिसके दो कारण हैं– (1) उसके द्वारा किये गये कर्मो का अन्य मनुष्यो, जीवों एवं भौतिक वस्तुओं पर प्रभाव पड़ता है। (2) मनुष्य अपने कर्मों को इस रूप में करने को भी स्वतंत्र है कि यह प्रभाव किसी के लिए नुकसानदायक न हो। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है यद्यपि उसमें संवेग व इच्छाएँ भी पायी जाती है परन्तु वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति अन्य प्राणियों की भाँति नहीं करता। सभी जीव–जन्तु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने परिवेश से करते है। उनका व्यवहार एक जैसा होता है। गाय का व्यवहार, चिड़िया व्यवहार उनकी प्रजाति के अनुरूप होता है परन्तु मनुष्य प्रजाति के सन्दर्भ में इस प्रकार की एकरूपता नहीं पाते। इसका कारण है कि मनुष्य एक ऐसा जीव है जो आत्मनिर्धारित है अर्थात् वह अपने कर्मो को करने या न करने के लिए स्वतन्त्र है। हम मनुष्य के कर्मो को दो श्रेणी में बांटते हैं–

(1) अनैच्छिक कर्म – ये एच्छिक क्रियाओं का आधार मानी जाती है ये मूल प्रवृत्तिजन्य, स्वतःचालित शारीरिक क्रियाएं अथवा ऐसी क्रियाएं है जिसमें मनुष्य के संकल्प की भूमिका नहीं होती है। इनके होने तथा परिणामों पर मनुष्य का नियन्त्रण नहीं होता और इसके लिए मनुष्य को उत्तरदायी भी नहीं माना जाता।

(2) ऐच्छिक कर्म – ऐच्छिक कर्म मनुष्य के संकल्पात्मक कर्म है जिन्हें करने अथवा नहीं करने के लिए

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

वह स्वतन्त्र होता है। मनुष्य जान बूझकर, एक से अधिक विकल्पों (options) में से चुनाव करते हुए, उद्देश्य या प्रयोजन को जानते हुए उसे करता है। इस प्रकार इन कर्मों के परिणाम का नियन्त्रण स्वतन्त्र इच्छा से उसे चुनने या न चुनने पर आधारित होता है। इस प्रकार के कर्मों के लिए मनुष्य को उत्तरदायी माना जाता है और एच्छिक कर्मों का ही नैतिक मूल्यांकन किया जाता है।

नैतिक मूल्यांकन के अन्तर्गत विचार किया जाता है कि अमुक कर्म शुभ है–अशुभ है, उचित है–अनुचित है, इत्यादि। इस प्रकार एच्छिक कर्म का आधार मनुष्य के संकल्प का स्वतन्त्र स्वरूप है और यही उसके नैतिक उत्तरदायित्व का आधार है।

4.2.1 संकल्प की स्वतंत्रता

मनुष्य बौद्धिक प्राणी होने के साथ–साथ संवेग, इच्छाएँ व मूल प्रवृत्तियाँ रखता है, परन्तु ये संवेग इच्छाएँ एवं प्रवृत्तियाँ संकल्प से निर्धारित और नियमित की जा सकती है। जैसे हम अपनी भूख को नियन्त्रित कर सकते हैं, अपने क्रोध पर काबू प्राप्त कर सकते हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों में संकल्प की भूमिका होती है। संकल्प की अनुपस्थिति में मनुष्य पशु के जैसा या उससे भी बुरा व्यवहार कर सकता है। संकल्प विचार या बुद्धि के आधार पर किया जाने वाला दृढ़ निश्चय होता है जो हमारे कर्म में फलीभूत होता है। यह मनुष्य में विद्यमान नियामक शक्ति है जिसे अन्तर्वस्तु भावनाओं व इच्छाओं से प्राप्त होती है यह मात्र उन्हें नियमित व नियन्त्रित करता है। उचित या उपर्युक्त ढंग से नियमन व नियंत्रण का अभ्यास ही शुभ संकल्प माना जाता है। इस प्रकार संकल्प की स्वतंत्रता मनुष्य की वह शक्ति है जिसका उपयोग कर वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी कर्म को करने या नहीं करने का चुनाव कर सकता है। यदि मनुष्य किसी विवशता या बाध्यतावश कोई कर्म करता है तो उसे स्वतन्त्र संकल्प पर आधारित नहीं माना जाता।

संकल्प की स्वतंत्रता को नीतिशास्त्र का मूल आधार माना जाता है क्योंकि हमारे समस्त कर्तव्य सम्बन्धी निर्णयों का आधार यही शक्ति है। नीतिशास्त्र की भाषा वर्णनात्मक नहीं होती। हम ऐसा नहीं कहते मनुष्य सत्य बोलता है। हम कहते है मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए। अतः नैतिक भाषा "है" (is) पर नहीं "चाहिए" (ought) पर आधारित है, क्योंकि मनुष्य सत्य बोलने अथवा नहीं बोलने के लिए स्वतन्त्र है। वह चाहे तो अपने को सत्य बोलने से रोक सकता है।

संकल्प की स्वतंत्रा के लिए कुछ अनिवार्य शर्ते है जिनके बिना मनुष्य के संकल्प को स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। ये शर्ते इस प्रकार से है–

(1) कर्म करने की क्षमता– मनुष्य को उन्ही कर्मों को करने के लिए स्वतन्त्र माना जाता है जिनके अनुरूप उसमें शारीरिक व बौद्धिक क्षमता हो। जैसे – हम किसी डूबते हुए बच्चे को बचाने के लिए उस व्यक्ति को दोष नहीं दे सकते जो तैरना नहीं जानता।

(2) उद्देश्यपूर्ण कर्म – हम किसी ऐसे व्यक्ति को अनुचित कर्म का दोषी नहीं मान सकते जिसे उस कर्म के संबंध में पूरी जानकारी न हो, ना ही उसने जानबूझकर उद्देश्य से प्रेरित होकर वह कर्म किया हो।

जैसे – किसी अधिकारी को कर्मचारी के बीमार होने की जानकारी ना हो और वह उसे शारीरिक श्रम से सम्बंधित जिम्मेदारी दे दे।

(3) विकल्पों की उपस्थिति – मनुष्य वास्तव में कर्म करने के लिए तभी स्वतन्त्र माना जाता है जब उसके पास विकल्प हो। यदि विकल्प का अभाव हो तो परिस्थिति की बाध्यता से वह जो कर्म करता है उसका दोषी उसे नहीं माना जा सकता। जैसे – आत्मरक्षा के लिए कोई जीव हिंसा हो जाती है तो मनुष्य को उसका दोषी नहीं माना जा सकता है।

4.2.2 नैतिक उत्तरदायित्व

संकल्प की स्वतंत्रता की उपर्युक्त शर्तें यह स्पष्ट करती हैं कि मनुष्य को नैतिक रूप से उत्तरदायी कब ठहराया जा सकता है। संकल्प की स्वतंत्रता में नैतिक आचरण की शर्त स्वीकारी जाती है। मनुष्य समाज में जो आचरण करता है वह उसके द्वारा चुने गए ऐच्छिक कर्मों का ही फल है। ऐच्छिक कर्मों के एक निश्चित रूप के चुनाव से आदतों का निर्माण होता है। ये आदतें अच्छी अथवा बुरी दोनों प्रकार की हो

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सकती हैं। शुभ कार्य करने की आदत को सद्गुण कहा जाता है। सद्गुण चरित्र की उत्तमता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति अपने चरित्र एवं आदतों के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी होता है।

उत्तरदायित्व किसी कर्म से सम्बंधित व्यक्ति की जिम्मेदारी है जो कर्म के अनुकूल उत्तर प्राप्त न होने पर व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से दोषी मानती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उत्तरदायित्व को नैतिक उत्तरदायित्व तभी कहा जायेगा जब वह संकल्प की स्वतंत्रता से सम्बंधित तीनों शर्तों को पूरा करता हो। उक्त शर्तो के अभाव में किसी व्यक्ति से जिम्मेदारी की अपेक्षा करना उचित नहीं है। जैसे छोटे बच्चे जो अबोध होते है किसी के घर से कोई चीज बिना पूछे ले आते है तो उसे चोरी (अनैतिक कर्म) नहीं कहा जा सकता। शिक्षा का अवसर नहीं मिलने वाले बच्चे को पढ़ाई नहीं करने का दोषी नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व संकल्प की स्वतन्त्रता से अनिवार्यतः सम्बन्धित वह नैतिक प्रत्यय है जो व्यक्ति से अपने प्रति एवं अन्य व्यक्तियों तथा सामाजिक हित के प्रति नैतिक कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन है।

4.2.3 नैतिक उत्तरदायित्व में सन्निहित संकल्प की स्वतंत्रता का स्वरूप –

मनुष्य अपने ऐच्छिक कर्मों के चुनाव में स्वतन्त्र है और वह शुभ आदतों या शुभ कर्मों के अभ्यास से सद्गुणी बनता है, परन्तु इस सद्गुणी प्रवृत्ति अथवा दुर्गुणी प्रवृत्ति के मूल में विद्यमान संकल्प की स्वतन्त्रता का स्वरूप समझने के लिए दो प्रकार के सिद्धान्त हैं–

(1) संकल्प की स्वतंत्रता अनियन्त्रित है व उद्देश्यहीन चुनाव भी कर सकती है। उसका सम्बंध अतीत् में किये जा रहे कर्मो से नहीं है। इस प्रकार संकल्प की स्वतन्त्रता में आकस्मिक कर्म का चुनाव संभव है। इसे अनियन्त्रणवाद कहते है।

यदि इस सिद्धान्त को हम स्वीकार करते है तो नैतिक उत्तरदायित्व की बात नहीं कर सकते, क्योंकि इसके अनुसार तो चुनाव पूर्णतः अनिश्चित है स्वछन्द है।

(2) संकल्प की स्वतंत्रता पूर्णतः नियंत्रित है मनुष्य का आनुवांशिक व्यवहार, परिस्थितियाँ, भौतिक व सामाजिक वातावरण उसके द्वारा चुने गए कर्म का कारण है। इस प्रकार संकल्प की स्वतन्त्रता होते हुए भी निश्चित कारणों के आधार पर व्यक्ति का व्यवहार निर्धारित है। इसे नियंत्रणवाद कहते है।

यदि इस सिद्धान्त को भी हम स्वीकार करते हैं तो नैतिक उत्तरदायित्व को नहीं समझा जा सकता क्योंकि कर्म का चुनाव व्यक्ति से बाहर स्थित कारणों से निर्धारित है।

संकल्प की स्वतंत्रता को उक्त दोनो सिद्धान्तों से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ आत्मनियंत्रण है। व्यक्ति जब कर्ता होता है तो परिस्थिति परिणाम इत्यादि का पूर्ण विश्लेषण करता है उसे कर्म के प्रयोजन की स्पष्टता होती है। समाज के व्यापक हित या नैतिक आदर्श के उददेश्य का उसे ज्ञान होता है। उसके सामने नैतिक व अनैतिक कार्य के चुनाव की स्वतंत्रता होती है फिर भी वह स्वतंत्र संकल्प से नैतिक कर्म का चुनाव करता है यह आत्मनियंत्रण है। आत्मनियंत्रण का अर्थ है व्यक्ति अपने द्वारा नियंत्रित है अपने चरित्र निर्माण तथा सदाचार का निर्धारण स्वयं उसके चुनाव का परिणाम है। इसमें न आकस्मिकता है और न निश्चितता है। चुनाव का अभ्यास उसके चरित्र को संगठित करता है जिसके आधार पर उसके व्यवहार से सम्बन्धित अनुमान किया जा सकता है। जैसे – महात्मा गाँधी के अहिंसा के दृढ पालन के आधार पर उनके कार्यों एवं वचनों की व्याख्या की जा सकती है।

4.03 दण्ड के सिद्धान्त

व्यक्ति और समाज परस्पर पूरक है। उनके मध्य एक नैतिक व्यवस्था है, जिसकी पालना हेतु कानून व्यवस्था स्थापित की जाती है। राज्य की कानून व्यवस्था का आधार नैतिक ही होना चाहिए अन्यथा कानून अपना शुभत्व खो देता है। चूंकि समाज में सभी व्यक्तियों का नैतिक विकास समान नहीं होता इसलिए अच्छे–बुरे दोनों प्रकार के व्यक्ति समाज में रहते है। अच्छे–बुरे का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्तियों के ये दो प्रकार है उसका अर्थ है समाज के हित की दृष्टि से अच्छाई में सहायता करने वाला व्यक्ति का कर्म अच्छा है तथा बुराई में वृद्धि करने वाला कर्म बुरा है। इन कार्यों के चुनाव के आधार पर व्यक्ति के चरित्र को अच्छा या बुरा कहा जाता है और चरित्र व्यक्ति, अपने अभ्यास से अर्जित करता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

ऐसा नहीं है कि एक बार जो चरित्र बन गया वह सदैव ऐसा ही रहेगा। मनुष्य के पास संकल्प की स्वतंत्रता है वह अपनी भूल को सुधार सकता है।। इस प्रकार एक बुरे चरित्र का व्यक्ति भी चाहे तो अच्छा हो सकता है और अच्छा व्यक्ति भी लापरवाही व कुसंगति में बुराई कर सकता है। दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति को बुराई करने से रोकना ही होता है। यदि दण्ड की व्यवस्था न हो तो अव्यवस्था एवं अशुभ के बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है, इसलिए सामाजिक व्यवस्था के लिये दण्ड को वांछनीय माना गया है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति में दण्ड को धर्म कहा गया है क्योंकि दण्ड सभी का रक्षक है।

4.3.1 दण्ड की परिभाषा एवं उसका स्वरूप

''अपराध करने अर्थात् नियम के विरूद्ध जान बूझकर कार्य करने वाले व्यक्ति को नियमानुसार किसी प्रकार से शारीरिक व मानसिक प्रताड़ना ही दण्ड है।''

इस प्रकार दण्ड का सम्बन्ध अपराध से है और अपराध नीति विरूद्ध कार्य है। सभी अपराध एक ही स्तर के नहीं होते। कर्म का उद्देश्य और परिणाम अपराध के स्तर को निर्धारित करते हैं। अतः दण्ड का निर्धारण व्यक्ति के कर्म के उद्देश्य एवं परिणाम पर दृष्टि रखकर ही तय किया जाता है। दण्ड शारीरिक या मानसिक कष्ट के रूप में दिया जा सकता है, जिसका मूल उद्देश्य व्यक्ति को उसके द्वारा किये गये अनुचित कार्य के बोध कराने के साथ सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करना भी होता है।

दण्ड का नैतिक आधार है क्योंकि यह व्यक्ति के संकल्प की स्वतंत्रता एवं नैतिक उत्तरदायित्व से जुड़ा हुआ है। हम अपने ऐच्छिक कर्मों के चुनाव में स्वतंत्र है परन्तु इन कर्मों के परिणाम पर विचार करना भी हमारा नैतिक कर्तव्य है। यदि हम बिना विचार किये कानून तोड़ते हैं तो दोष हमारा है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था का सम्मान एवं सत्य का सम्मान हमारे मूल नैतिक कर्तव्य है। अज्ञानवश भूल हो जाना तथा विचार ही ना करना भिन्न प्रकार के कर्म है। अज्ञानवश किसी व्यक्ति से भूल हो जाती है जैसे – अशिक्षित व्यक्ति दवाई की शीशी पर लिखा नाम व तिथि नहीं पढ़ सकने के कारण मरीज को दवाई देने में गलती कर देता है तो वह नैतिक दृष्टि से दोषी नहीं है परन्तु जो व्यक्ति दवाई की शीशी पर नाम व तिथि पढ़ने को गम्भीरता से नहीं लेता और लापरवाह रहते हुए मरीज को दवाई पिला देता है तो उसका कर्म नैतिक दृष्टि से अनुचित है। जानबूझकर किसी को गलत दवाई पिला देना अपराध है जिसके लिए दण्ड आवश्यक है। दण्ड का अर्थ व्यापक है इसमें शारीरिक कष्ट या मानसिक कष्ट पहुँचाना ही उद्देश्य नहीं है। अपराध को रोकना, अपराधी को उसकी गलती की सजा देना तथा उसे भविष्य में ऐसी गलती करने से बचाना भी इसके उद्देश्य है। इन्हीं आधारों पर दण्ड के तीन सिद्धान्त स्वीकारे गए है–

(1) प्रतिरोधात्मक (2) सुधारात्मक (3) प्रतिकारात्मक / प्रतिशोधात्मक

4.3.2 प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Preventive Theory)

इस सिद्धान्त का उद्देश्य भविष्य में दण्ड को रोकना है। यहाँ किसी व्यक्ति को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि उससे सबक लेकर अन्य कोई भी इस तरह का अपराध करने का प्रयास न करे। यह प्रतिरोधक चेतावनी के रूप में दिया जाता है। इस सिद्धान्त में अपराध को रोकने के उद्देश्य से कठोर दण्ड भी उचित माना जाता है। जैसे – चोरी के अपराध में मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता है। यहाँ दण्ड चोरी करने की सजा नहीं है बल्कि भविष्य में कोई चोरी करने का दुस्साहस न करे इसलिये सजा दी जाती है।

आलोचना – दण्ड का यह सिद्धान्त संतोषप्रद नहीं माना जाता क्योंकि – (1) यह व्यक्ति का प्रयोग अन्य लोगों को चेतावनी देने के साधन के रूप में करता है। (2) इस दृष्टि से व्यक्ति को उसके दण्ड के अनुपात से ज्यादा भी दण्ड देना उचित मान लिया जाता है जो न्याय संगत नहीं है। (3) यह सिद्धान्त अपराधी को सुधरने का कोई अवसर नहीं देता।

4.3.3 सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative theory)

इस सिद्धान्त का उद्देश्य अपराधी के चरित्र में सुधार लाना है। आधुनिक युग में यह लोकप्रिय सिद्धान्त है जिसमें दण्ड अपराधी के हित में दिया जाता है। यह सिद्धांत इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि अपराध की मनोवृत्ति प्रतिकूल सामाजिक स्थितियों में निर्मित होती है। व्यक्ति का अपराधी स्वभाव इस प्रकार की परिस्थितियों में रहने से होता है यदि उसे उपयुक्त परिस्थति एवं मनोचिकित्सा

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

उपलब्ध करवायी जाय तो उसमें सुधार लाया जा सकता है। यह सिद्धान्त मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुरूप है तथा मृत्युदण्ड को किसी भी स्थिति में स्वीकार नही करता।

आलोचना – यद्यपि यह सिद्धान्त व्यक्ति की गरिमा की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है परन्तु (1) कई बार देखा जाता है कि इसके मृदु स्वभाव का फायदा उठाकर अपराधी समाज को हानि पहुँचाते हैं। (2) प्रत्येक अपराध प्रतिकूल परिस्थितियों व मनोवैज्ञानिक कारणों से नहीं होता कुछ व्यक्तियों में स्वार्थ व लालच की प्रवृत्ति अत्यधिक होती है। (3) क्रूरतम अपराध की स्थिति में इस सिद्धान्त की अपेक्षा प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त अधिक उपर्युक्त प्रतीत होता है।

4.3.4 प्रतिकारात्मक / प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)

इस सिद्धान्त का उद्देश्य नैतिक नियम की प्रभुता की रक्षा करना है इसलिए नियम भंग करने वाले अपराधी को उसके अपराध के अनुसार दण्ड भुगतना न्यायसंगत है। अरस्तु ने दण्ड को ऋणात्मक पुरुस्कार माना है। जो मनुष्य जान बूझकर नैतिक नियम को भंग करता है वह ऋणात्मक या निषेधात्मक पुरूस्कार का अधिकारी है। काण्ट व हेगेल भी इस सिद्धान्त को स्वीकारते है। इस सिद्धान्त में अपराध की गम्भीरता के अनुरूप दण्ड तय किया जाता है। यह आँख के बदले आँख और हाथ के बदले हाथ, इस बदले की भावना पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार हत्या के लिए मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त के दो स्वरूप है–

(1) कठोर–यह मत दण्ड को अपराध के अनुपात में देने की बात करता है यदि अपराध गम्भीर है तो दण्ड कठोर मिलना चाहिए। हल्का है तो दण्ड भी हल्का होना चाहिए।

(2) मृदु–इस मत के अनुसार दण्ड देते समय अपराधी की परिस्थितियों पर भी विचार करना चाहिए। जैसे – अपराधी की आयु, उत्तेजक परिस्थितियाँ, अपराध का कारण देखकर दण्ड का स्वरूप तय करना चाहिए।

आलोचना –

(1) यह सिद्धान्त बदले की भावना पर आधारित है। प्रतिशोध को नैतिक नहीं माना जा सकता।

(2) इस सिद्धान्त में अपराधी के लिए क्षमा का स्थान नहीं है।

(3) यह सिद्धान्त नैतिक नियम को मनुष्य से उपर स्थान देता है। जिसे हर परिस्थिति में उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।

4.3.5 मूल्यांकन

दण्ड के उपर्युक्त तीनों ही सिद्धान्त आंशिक रूप से सन्तोषजनक हैं। ये परस्पर पूरक सिद्धान्त हैं। दण्ड के औचित्य को स्वीकार करने में तीनों ही स्थितियाँ होती हैं– अन्य व्यक्तियों को अपराध करने से रोकना, स्वयं अपराधी के चरित्र में सुधार करना तथा बुरे कर्मो का उचित फल देना। जब तक मनुष्य समाज में जानबूझकर नियम विरूद्ध कार्य करेगें और दूसरों के अधिकारों को चोट पहुँचाएंगे दण्ड की आवश्यकता समाज में बनी रहेगी। मृत्युदण्ड का समर्थन प्रतिशोधात्मक व प्रतिकारात्मक दोनों सिद्वान्त करते है सिर्फ सुधारात्मक सिद्धान्त इसका विरोध करता है। कई देश मृत्युदण्ड की व्यवस्था समाप्त कर चुके है परन्तु सामाजिक व्यवस्था के लिए जघन्य अपराध करने वालों के लिए इसे न्यायसंगत भी स्वीकारा जाता है।

बहुविकल्पात्मक

(1) सहज (Instinctive) व्यवहार से संचालित होते हैं–

(अ) अधिकार (ब) मनुष्य (स) पशु (द) दण्ड

(2) अधिकार एवं कर्तव्य सार्थक हैं–

(अ) अकेले मनुष्य के लिए (ब) आतंक फैलाने वाले के लिए
(स) पशु–पक्षियों के लिए (द) सामाजिक जीवन जीने वाले मनुष्यों के लिए

(3) अधिकार दिये जाते हैं–

(अ) बिना शर्त (ब) आदेश रूप
(स) समाज हित की शर्त पर (द) न्यायालय से मांगने पर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(4) व्यक्ति को सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यकता होती है–
(अ) समाज की (ब) दोस्तों की
(स) तकनीक की (द) भौतिक पदार्थों की

(5) समाजिक व्यवस्था का सम्मान–
(अ) अधिकार को बाधित करता है (ब) मूल कर्तव्य है
(स) रूढ़ि है (द) आधुनिकता के विपरीत है

(6) प्रत्येक अधिकार अपने साथ–
(अ) दुःख लाता है (ब) खुशी लाता है
(स) सुस्त बनाता है (द) कर्त्तव्य की बाध्यता लाता है

(7) मनुष्य की आदतें हैं–
(अ) ऐच्छिक कर्म (ब) अनैच्छिक कर्म
(स) अव्यवस्थित कर्म (द) पूर्वजन्म के कर्मो का फल

(8) संकल्प की स्वतंत्रता का उपयोग कब नहीं हो सकता–
(अ) कर्म करने की क्षमता होने पर (ब) कर्म के सम्बन्ध में उद्देश्य की जानकारी होने पर
(स) विकल्पों के अभाव में (द) उपर्युक्त सभी स्थितियों में

(9) 'तुम्हें भेड़ चुराने के लिए दण्ड नहीं दिया जा रहा बल्कि इसलिए दिया जा रहा है कि भविष्य में भेड़े चोरी न हो।' कथन कौनसे सिद्धान्त का समर्थन करता है–
(अ) प्रतिरोधात्मक (ब) प्रतिकारात्मक
(स) सुधारात्मक (द) उपर्युक्त में से काई नहीं

(10) 'दण्ड ऋणात्मक पुरूस्कार है।' कथन का समर्थन करने वाला सिद्धान्त है–
(अ) सुधारात्मक (ब) प्रतिकारात्मक (स) प्रतिरोधात्मक (द) उपर्युक्त सभी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) आचरण क्या है?
(2) नैतिक कर्ता किसे कहा जा सकता है?
(3) अधिकार को परिभाषित कीजिये।
(4) कर्त्तव्य की परिभाषा दीजिये।
(5) जीने का अधिकार क्या है?
(6) सार्वभौमिक कर्तव्य किसे कहा जा सकता है?
(7) मूल अधिकार क्या है?
(8) ऐच्छिक कर्म क्या है?
(9) संकल्प क्या है?
(10) आत्मनियंत्रण का क्या अर्थ है?
(11) अपराध क्या होता है?
(12) दण्ड के सिद्धान्तों के नाम लिखिये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है?
(2) 'अधिकार और कर्तव्य सापेक्ष धारणाएँ है।' समझाइये।
(3) कानूनी अधिकार व नैतिक अधिकार में क्या अन्तर है?
(4) समझौते की पूर्ति के अधिकार को समझाइये।
(5) क्या आप मानते है जीवन का सम्मान हमारा मूल कर्तव्य है?समझाइये।
(6) कर्तव्य व उचित कर्म में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(7) सार्वभौमिक कर्तव्य किसे कहा जा सकता है?उदाहरण सहित समझाइये।
(8) ऐच्छिक व अनैच्छिक कर्म में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
(9) नैतिक उत्तरदायित्व को स्पष्ट कीजिये।
(10) अनियन्त्रणवाद व नियन्त्रणवाद को समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) अधिकार एवं कर्तव्य के मध्य सम्बन्ध को समझाइये।
(2) मूल अधिकार किसे कहते है?मूल नैतिक अधिकारों को समझाइये।
(3) मूल नैतिक कर्तव्यों के रूप में कौनसे कर्तव्य स्वीकारे गए है। वर्णन कीजिये।
(4) संकल्प की स्वतन्त्रता के स्वरूप एवं मूल शर्तो को समझाइये।
(5) संकल्प की स्वतन्त्रता व नैतिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिये।
(6) दण्ड के सिद्धान्तों की गुण–दोषों सहित व्याख्या कीजिये।
(7) मृत्युदण्ड किस सिद्धान्त से अंसगत है?मृत्युदण्ड समाप्त करने के बारे में अपने विचार लिखिये।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

5

पर्यावरण एवं नैतिकता

पिछले अध्याय में हमने समाज में मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्यों के स्वरूप का अध्ययन किया। अधिकार एवं कर्तव्य की धारणा मनुष्य–मनुष्य के सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं है। हमारे सामाजिक जीवन एवं उसकी प्रगति का महत्वपूर्ण आधार पर्यावरण है जो मनुष्य के अस्तित्व को कायम रखने का अपरिहार्य आधार है। पर्यावरण मनुष्य के चारों ओर विद्यमान प्राकृतिक परिवेश के रूप में जाना जाताहै जो उसे रहने के लिए जमीन, खाने के लिए भोजन, तन ढकने के लिए वस्त्र, पीने के लिए पानी, सांस लेने के लिए ऑक्सीजन जैसी मूल आवश्यकताओं के अतिरिक्त विकास व उन्नति के अवसर देता है। प्रकृति की बाधाओं ने मुनष्य को विकास के लिए अवसर दिया और विकसित मनुष्य ने प्रकृति की ही घोर उपेक्षा की। परिणामस्वरूप आज प्रकृति एवं उसके पर्यावरणीय घटकों में असंतुलन एवं अवनयन (Degradation) उत्पन्न हुआ है।

उपर्युक्त विकृति का कारण मनुष्य के दोषपूर्ण आचरण को माना जाता है अतः आज पर्यावरण की संरक्षा एवं स्वास्थ्य के लिए न्यायसंगत एवं विवेकपूर्ण परामर्श की अति आवश्यकता है। पर्यावरण नैतिकता नीतिशास्त्र का ऐसा ही प्रयोगात्मक (Prachical) क्षेत्र है जिसमें पर्यावरण एवं उसके विभिन्न घटकों के मध्य पाये जाने वाले अन्तः सम्बन्धों के आदर्श स्वरूप को बनाये रखने हेतु विवेकसंगत व निष्पक्ष आचरण के मापदण्ड पर विचार किया जाता है।

5.01 पर्यावरण की परिभाषा एवं स्वरूप

पर्यावरण शब्द संस्कृत भाषा के 'परि' उपसर्ग जिसका अर्थ 'चारों ओर' तथा आवरण से मिलकर बना है। इस प्रकार पर्यावरण को ऐसे सभी कारको (Factors) का योग कहा जाता है जो पृथ्वी के जैव जगत (जिसमें मनुष्य सहित सभी जीव शामिल है) को चारो ओर से घेरे हुए है।

पर्यावरण को अंग्रेजी में 'Environment' कहा जाता है जो फ्रेंच शब्द 'Environer' से लिया गया है। इसका भी अर्थ है घेरना अर्थात् चारों ओर से आवृत्त करना।

पर्यावरण को पहले प्रमुख रूप से मनुष्य के प्राकृतिक परिवेश के रूप में जाना जाता था परन्तु पारिस्थितिकीय विज्ञान ने पर्यावरण के अन्तर्गत विभिन्न अन्तः समबन्धों एवं अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करते हुए प्रकट किया कि पर्यावरण में विभिन्न घटकों के मध्य अन्तर्निभरता होती है।

इस प्रकार पर्यावरण अपनी सम्पूर्णता में एक इकाई है जिसमें अजैविक व जैविक घटक आपस में अन्तर्क्रिया करते हुए परस्पर निर्भर होते है और यह विशेषता पर्यावरण को एक पारितन्त्र (Ecosystem) का रूप प्रदान करती है।

पर्यावरण प्रकृति का ही रूप है जो सभी जीवों के जीवन चक्र (Life Cycle) को बनाए रखने में सहायक है और इसे निर्धारित भी करता है। सभी जीव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पर्यावरण से करते हैं। इसलिए पर्यावरण को उन प्रभावों का योग कहते है जो जीवन का निर्धारण करते है। यह प्राकृतिक पर्यावरण है, परन्तु मनुष्य सिर्फ प्रकृति प्रदत्त पर्यावरण में नहीं रहता उसका सांस्कृतिक पक्ष भी है जो उसके मूल्यों से निर्मित होता है। मनुष्य का यह सांस्कृतिक पक्ष प्राकृतिक पर्यावरण पर भी प्रभाव डालता है। इस प्रकार पर्यावरण में अजैविक एवं जैविक घटकों के साथ–साथ प्रकृति प्रदत्त तत्वों से भिन्न सांस्कृतिक अनुक्रियाओं का प्रभाव भी सम्मिलित होता है। इस आधार पर पर्यावरण की परिभाषा हैः–

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

पर्यावरण एक अविभाज्य समष्टि है तथा भौतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक तत्वों वाले पारस्परिक क्रियाशील तन्त्रो से इसकी रचना होती है। ये तन्त्र अलग–अलग या सामूहिक रूप से विभिन्न रूपों में परस्पर सम्बन्धित होते है।

–सविन्द्र सिंह (पर्यावरण भूगोल)

5.1.1 पर्यावरण का स्वरूप

पर्यावरण की परिभाषा से स्पष्ट है कि पर्यावरण भौतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक तत्वों का योग है जो परिवर्तित होता रहता है। पर्यावरण के सभी तत्व परस्पर एक दूसरे पर निर्भर करते है। पर्यावरण के उक्त तत्वों को अजैविक व जैविक घटकों में बांटा जाता है।

अजैविक घटक– इसे भौतिक या अजैविक पर्यावरण (Physical environment) कहा जाता है जिसमें निर्जीव पदार्थ आते है जो सभी जीवों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति एवं वृद्धि का आधार होते है। भौतिक पर्यावरण तीन प्रकार का होता है:–

1. स्थलमण्डल (Lithosphere)– इसमें पर्वत, पठार, मैदान चट्टाने इत्यादि भू–आकृतियाँ सम्मिलित है।
2. वायुमण्डल (Atmosphere)– इसमें विभिन्न गैसे, तापीय दशा, आद्रता, बादल वर्षा पवन इत्यादि आते है।
3. जल मण्डल (Hydrosphere)– इसमें विभिन्न जल राशियाँ महासागर व सागर इत्यादि आते हैं।

जैविक घटक– इसे जैविक पर्यावरण (Biotic Environemnt) कहते है। इसमें वनस्पति तथा मनुष्य सहित सभी जीव जन्तु शामिल हैं। जैविक पर्यावरण को दो भागों में बांटा जाता है।

(1) वनस्पति जगत (Flora)

(2) जन्तु जगत (Founa)

इन सजीवों में मनुष्य सर्वोच्च विकसित जीव माना जाता है। चेतना के विकास की दृष्टि से वनस्पति जगत में स्पन्दन एवं संवेदनशीलता का आरम्भ माना जाता है जबकि पशु पक्षियों में संवेदनशीलता का क्रमोन्नत स्तर देखा जाता है। मनुष्य में संवेदनशीलता एवं विचार का उच्चतम पक्ष पाया जाता है। सभी जीवधारी अपने जीवन निर्वाह, अस्तित्व तथा विकास के लिए भौतिक पर्यावरण से पदार्थ प्राप्त करते है। ये जीव आपस में भी सम्बंधित होते है तथा भौतिक पर्यावरण से भी सम्बंधित होते है।

भौतिक पर्यावरण से जीवों का सम्बंध तथा जीवों का आपस में सम्बंध जिस विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है उसे पारिस्थितिकी (Ecology) कहा जाता है। इन सम्बंधों का एक आदर्श अथवा नियामक रूप है जिसके बने रहने पर ही पर्यावरण को जीवन के अस्तित्व एवं विकास के अनुकूल कहा जा सकता है।

अजैविक एवं जैविक घटक तथा उनके अन्तःसंबंध प्राकृतिक नियमों के अनुसार है। मनुष्य जैविक घटक का ऐसा पक्ष है जिसमें विचार एवं इच्छाओं का उन्नत स्तर है। उसे सर्वाधिक बुद्धिमान कहा गया है जिसने समाज संगठन को व्यवस्थित रूप में विकसित किया है और प्राकृतिक सम्पदा के आधार पर ही आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक विकास किया है जिससे उसका सांस्कृतिक पर्यावरण निर्मित हुआ है।

सांस्कृतिक पर्यावरण में मनुष्य की विविध गतिविधियाँ जैसे–मानव बस्तियों (वर्तमान में नगरीकरण) का निर्माण, परिवहन के साधन, वस्त्र, भोजन, उद्योग धन्धे, धर्म, शिक्षा, ज्ञान–विज्ञान व तकनीक आते है। यह मानव निर्मित पर्यावरण है परन्तु इसका निर्माण प्राकृतिक पर्यावरण के बिना सम्भव नहीं है।

सांस्कृतिक पर्यावरण और प्राकृतिक पर्यावरण के सम्बन्ध को प्रकृति एवं मनुष्य के सम्बन्ध का अध्ययन कर हम बेहतर समझ सकते हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

5.02 मनुष्य एवं प्रकृति का सम्बन्ध–

प्रकृति (Nature) का शब्द कोशीय अर्थ होता है बाहरी दुनिया (External world) इस प्रकार मनुष्य से बाहर प्रकृति होनी चाहिए। परन्तु आज मनुष्य प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिए, उसके आनन्द को महसूस करने के लिए अपने आवास से दूर जाता है क्योंकि वह जिस सुविधा भोगी संसार से जुडा है वह मानव निर्मित व कृत्रिम है। आरम्भिक मनुष्य प्राकृतिक जगत में ही निवास करता था। प्रकृति में उसकी भोजन व अन्य आवश्यकताएं पूरी होती थी। उसका जीवन संघर्षमय था परन्तु मनुष्य ने अपनी बुद्धि से इन प्राकृतिक संघर्षों में जीना सीखा और कौशल का विकास किया। प्रकृति में मनुष्य के लिए हिंसक व अहिंसक दोनों प्रकार की शक्तियाँ थी। जिनसे मुकाबला करते हुए प्राकृतिक मानव ने समूह में रहना आरम्भ किया और वह सामाजिक मानव बना जिसने कानून, नियम व नीतियों की व्यवस्था की। इस सामाजिक मानव ने समूह में रहकर हिंसक पशुओं से अपना बचाव करना व सुरक्षा करना सीखा और साथ ही साथ प्राकृतिक परिवेश से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आर्थिक गतिविधियाँ आरम्भ की।

प्रारम्भ में इन आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र प्राकृतिक सुविधाओं के आधार पर ही हुआ। इसका प्रमाण नदी घाटी सभ्यताएँ हैं। नदियों के किनारे सभ्यता का विकास यह प्रकट करता है कि रहने के लिए समतल भूमि, कृषि के लिए उर्वरभूमि एवं पर्याप्त जल की मौजूदगी ने मुनष्य की सभ्यता को उन्नत किया। इस समय मनुष्य की आर्थिक गतिविधियाँ प्रकृति के साथ सामन्जस्यपूर्ण थी। प्रकृति के प्रति उनके मन में आदर व कृतज्ञता थी जो स्वाभाविक नैतिक प्रतिक्रिया कही जा सकती है। इस काल में जो धार्मिक प्रवृत्तियाँ आरम्भ हुई उसमें प्रकृति की उपासना थी। हमारी वैदिक संस्कृति में भी हम पाते है कि प्रकृति को श्रद्धा भाव से देखा गया है और भरण–पोषण का आधार होने के कारण उसे आदरपूर्ण मानवीय सम्बन्धों में स्वीकारा गया है

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।' (अर्थवेद 12.1.12)

अर्थात भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। पर्जन्य (मेघ) हमारे पिता है जो हमारी प्यास बुझाते है।

जैसे–जैसे मनुष्य के विकास की कहानी आगे बढ़ी उसकी आर्थिक गतिविधियाँ तेज हुई। उसने अपनी बुद्धि और कौशल से अपनी प्रजाति को सुरक्षित किया और जनसंख्या का दबाव भी प्रकृति पर बढ़ने लगा। वह सामाजिक मानव से आर्थिक मानव की प्रमुख भूमिका में आ गया और प्राकृतिक संसाधनों का तेज गति से उपभोग आरम्भ हुआ।

विकास की इस यात्रा को प्राकृतिक चिन्तन पर आधारित धर्मों से भिन्न जब ऐसे धर्मों का सहयोग प्राप्त हुआ जिन्होंने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानते हुए प्रकृति को भोग्य माना तब आर्थिक मानव को सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग भी प्राप्त हुआ। जिसके फलस्वरूप पर्यावरणीय मूल्यों से स्वतंत्र विज्ञान, तकनीक और उपभोक्तावाद का उदय हुआ। जो प्रौद्योगिकी मानवीय वृद्धि एवं कौशल के प्रति हमें अभिभूत करती है उसके दुष्परिणाम हमारे सामने आने लगे। जिस विज्ञान और तकनीक का प्रयोग मानवतावादी मूल्यों के लिए किया जाना था उसके दिशाहीन उत्पादन ने पारिस्थितिकीय संतुलन को खतरे में डाल दिया।

वर्तमान में पर्यावरणीय समस्याएँ विज्ञान एवं भूगोल की समस्याएं नहीं रह गई है यह हमारी सामाजिक व सांस्कृतिक पक्ष की भी समस्या बन गई है जिसके निम्न प्रमुख दुष्परिणाम हैः–

(1) पर्यावरण प्रदूषण आज चिन्ता का विषय है जो आधुनिक जीवन शैली के अपशिष्टो का परिणाम है। प्राकृतिक पर्यावरण के प्रमुख घटक मिट्टी, जल एवं वायु इन तीनों की गुणवत्ता घटती जा रही है और प्रदूषक तत्वों से ऐसी अवांछनीय स्थिति प्रकट हो रही है जो जैव मण्डल के लिए खतरा बन गई है। मृदा प्रदूषण, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण व ध्वनि प्रदूषण पर्यावरणीय प्रदूषण के प्रमुख प्रकार है।

(2) मनुष्य की आर्थिक गतिविधियों के बेलगाम होने से संसाधनों का बड़ी मात्रा में विदोहन हो रहा है और पुनः इन्हें उत्पादित करने में प्रकृति की प्रक्रिया धीमी है जो भविष्य के विकास के लिए प्रश्नसूचक है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(3) वनो के क्षेत्रफल में कमी आई है जिसका प्रभाव पृथ्वी पर तापमान वृद्धि (Global warming) है जिसके कारण जलवायु परिवर्तन एवं प्राकृतिक आपदाओं में वृद्धि हुई है।

(4) शोध और तकनीकी प्रयोगों में अन्य जीवों का प्रयोग खाद्य श्रृंखला को समाप्त कर रहा है, जैसे मेंढक व सांपो की संख्या कम होने से चूहो की संख्या बढ़ रही है जो प्रकृति के लिए विनाशकारी है।

(5) कीटनाशको के अत्यधिक प्रयोग से भूमि प्रदूषण हो रहा है। फसलों में स्वास्थ्य के प्रतिकूल तत्त्व पाये जाने लगे है। यहाँ तक की कीटनाशको युक्त खाद्य पदार्थ खाने से जानवरों की मौत होती है। उन मृत जानवरो को खाने वाले पक्षी बाज, गिद्ध की प्रजाति भी खतरे में आ गई है।

(6) जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि से प्रकृति पर उसकी क्षमता से अधिक भार पड़ रहा है और अनियोजित नगरीय विकास, मलिन बस्तियों के निर्माण से सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रदूषण पैदा हो रहा है।

उपर्युक्त सभी पर्यावरणीय समस्याओं का कारण मनुष्य की प्रकृति के प्रति अनुचित दृष्टि एवं व्यवहार है जो प्रकृति के मूल्य को उचित ढंग से न देखने का परिणाम है।

मनुष्य की विकास यात्रा प्रकृति के साथ उसके बदलते सम्बन्धों की कहानी है जिसके मूल में पाश्चात्य जगत में तीन विचारधाराओं को स्वीकारा गया हैः–

(1) नियतत्त्ववाद (Determinism):– इस विचारधारा को फ्रेडरिक रेटजेल एवं उनकी शिष्या ई. सी. सेम्पुल ने प्रस्तुत किया था। इस विचारधारा के अनुसार प्रकृति या पर्यावरण ही सर्वशक्तिमान है और मनुष्य के क्रियाकलापों का नियंत्रण मनुष्य के हाथ में है। इस सिद्धान्त ने मनुष्य को प्रकृति का दास कहा।

(2) संभववाद (Possibilism):– इसका सर्वप्रथम प्रयोग एल. फैवर ने किया जिसके अनुसार नियतत्त्ववाद सत्य नहीं है। प्रकृति में मनुष्य के लिए अपार संभावनाएँ हैं। वह इन संभावनाओं का स्वामी है। अतः इन संभावनाओं का उपयोग कैसे करना है इसका निर्णय मनुष्य को ही करना है।

(3) नवनियतत्त्ववाद (Neo Determinism):– इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 1938 में ग्रिफिथ टेलर ने किया। यह सिद्धान्त न तो मनुष्य को प्रकृति का दास मानता है ना ही संभावनाओं का पूर्ण स्वामी स्वीकारता है। उनके अनुसार मनुष्य वातावरण का उपयोग करने की स्वतंत्रता रखता है, परन्तु उसे प्राकृतिक नियमों को मानते हुए आगे बढ़ना होता है। इसे रूको एवं जाओं की धारणा कहा जाता है जो अंधाधुंध प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को अनुचित स्वीकार करती है।

उपर्युक्त विचारधाराओं में प्रथम विचारधारा मनुष्य के कौशल और सूझबूझ की उपेक्षा करती है तो दूसरी विचारधारा उसकी स्वतंत्रता को स्वच्छंदता की ओर अग्रसर करती है। तीसरी विचारधारा संतुलित प्रतीत होती है, परन्तु वर्तमान में पर्यावरण संकट इतना विस्तार ले चुका है कि पर्यावरणविद् मानव केन्द्रित मूल्य को अप्रासंगिक (Irrelavant) मानने लगे है।

मानव केन्द्रित मूल्य (Anthropocentric Values):- इन मूल्यों को मनुष्य की इच्छा एवं सन्तुष्टि को केन्द्र में रखते हुए वांछनीय कहा जाता है। मनुष्य को प्रकृति का सर्वोत्तम जीव मानकर अन्य प्राणियों, वनस्पतियों एवं भौतिक तत्वों को मनुष्य की दृष्टि से उपभोग के साधन होने के कारण मूल्यवान माना जाता है।

तीव्र औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं अन्य पर्यावरणीय समस्याओं के मूल में मानव केन्द्रित मूल्यों की अवधारणा ही स्वीकारी जाती है। वर्तमान में पर्यावरणविद् प्रकृति व अन्य जीवों के अन्तस्थ मूल्य (Intrinsic value) को महत्वपूर्ण मानते हैं।

अंतस्थ मूल्य (Intrinsic value):- ये मूल्य किसी उद्देश्य की पूर्ति या मानव के लिए उपयोगी होने पर निर्भर नहीं करते इनका अस्तित्व में होना ही मूल्यवान है। इसी अवधारणा के कारण पशुजगत, वनस्पति जगत व भौतिक तत्त्वों के अन्तस्थ मूल्यों को पारिस्थितिकीय नैतिकता की दृष्टि से स्वीकारा जाता है। इनके अस्तित्व के नष्ट होने पर जीवों की श्रंखलाएँ एवं अन्तः सम्बन्ध प्रभावित होंगे जिन्हें बनाये रखना प्रकृति एवं मनुष्य दोनों के अस्तित्व परक दृष्टिकोण से वांछनीय है। यह जिम्मेदारी व्यक्ति की ही है, क्योंकि समूचे पर्यावरण में वही संकल्प की स्वतन्त्रता से युक्त नैतिककर्त्ता है जो अपने कार्यों के

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

विकल्पों के मध्य उचित चुनाव करने की समर्थता रखता है और कर्म का चुनाव सोच विचार कर नैतिक उत्तरदायित्व की भावना के साथ कर सकता है।

5.03 व्यक्ति का पर्यावरण के प्रति दायित्व

मनुष्य के कर्तव्यों की धारणा सिर्फ अन्य मनुष्यों के प्रति व्यवहार तक सीमित नहीं है उसका क्षेत्र पर्यावरण के जैविक एवं अजैविक घटको तक भी फैला हुआ है। मनुष्य सभी जीवधारियों में संवेदनशीलता एवं विवेक की दृष्टि से अत्यधिक विकसित है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पर्यावरण से करता है इसलिए पर्यावरण का संरक्षण उसका दायित्व है। साथ ही साथ अन्य जीव जो पर्यावरण से अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते है उनकी भी जिम्मेदारी मनुष्यों पर है क्योंकि परिस्थितिकीय तन्त्र को बचाएं रखना जरूरी है। यह मनुष्य के उपभोग की दृष्टि से तथा पर्यावरण के अंतरस्थ मूल्य दोनों दृष्टियों से वांछनीय है।

पर्यावरणीय नैतिकता के अन्तर्गत पर्यावरण के विभिन्न घटकों से सम्बंधित मनुष्य के कर्तव्यों एवं उचित अनुचित का निर्णय करने वाले मापदण्डों का अध्ययन किया जाता है इस दृष्टि से पर्यावरण नैतिकता के निम्न तीन पक्ष हैः–

(1) पशु जगत से संबंधित नैतिकता
(2) वनस्पति जगत नैतिकता
(3) भौतिक जगत से संबंधित नैतिकता

5.3.1 पशुजगत से संबंधित नैतिकता

जीव जन्तु हमारे पर्यावरण के आवश्यक अंग है। मनुष्य उनका उपभोग अपने जीवन की आवश्यकता पूर्ति के लिए, अधिक सुविधाजनक बनाने एवं मनोरंजन हेतु करता है। इस प्रकार पशु–पक्षी एवं मनुष्य पर्यावरण में अन्तःसंबंध में रहते हैं, परन्तु पशु मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करता है?यह नीतिशास्त्र का विषय नहीं है, बल्कि मनुष्य को पशुओं के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए यह पशुजगत परक नैतिकता का मूल विषय है।

मनुष्य केन्द्रित मूल्यों की आवधारणा ने पशु–पक्षियों को मनुष्य का साधन मात्रा माना है इसलिए धार्मिक ग्रन्थों में भी पशुओं के प्रति हिंसा को निन्दनीय नहीं माना गया है। विज्ञान में भी इसी को आधार बनाते हुए मनुष्य के हित में पशु शरीर विच्छेदन किया जाता है। अधिक दूध के उत्पादन के लिए दुधारू पशुओं को रसायन युक्त इन्जेक्शन लगाए जाते हैं जो उनके तथा उनके दूध की गुणवत्ता के लिए नुकसानदायक है। मनुष्य के भोजन की जरूरतों के लिए भी पशुओं की हत्या की जाती है। इसी प्रकार मनुष्य कृत्रिम इच्छाओं जैसे–हाथी दाँत प्राप्त करना, पशुओं के बाल व खाल का सजावट में उपयोग करना, अपने लिए उपयोगी वस्तुओं के निर्माण के लिए भी पशुओं की हत्या करता है।

मनुष्य का उपर्युक्त व्यवहार यह मानता है कि मनुष्य अन्य जीवों से ऊँचा स्थान रखता है अतः मनुष्य की इच्छाओं की पूर्तिमात्र ही पशुजीवन का उद्देश्य है। पशुओं का उपभोग मनुष्य का अधिकार है। ऊपर बताये गये तर्को का यदि हम नैतिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करे तो पाते है कि मनुष्य को सुख प्रदान करना मात्र किसी कर्म को शुभ नहीं बनाता। उस कर्म के मूल में विवेकपूर्ण तर्क का स्थान है जिसकी परीक्षा करके ही उस कर्म को उचित कहा जा सकता है। इस आधार पर निम्न प्रश्न उठते हैं–

(1) क्या पशुओं में इच्छा या संवेदनशीलता नहीं होती?जितने भी सचेतन प्राणी है उनमें सुख प्राप्त करने की एवं पीड़ा से दूर होने की प्रवृत्ति होती है क्या उनकी इस इच्छा को पूरा करना मनुष्य का दायित्व नहीं है?
(2) अपनी कृत्रिम इच्छाओ के लिए किसी के जीवन को नष्ट करना अनुचित नहीं है?
(3) क्या मनुष्य अन्य जीवों के जीवन के होने में आनन्द व सौन्दर्य का अनुभव नहीं करता?
(4) पशु–पक्षी हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। वे खाद्य श्रृंखला के आवश्यक भाग हैं। उनकी संख्या में कमी पूरे परिस्थितिकीय तन्त्र को असंतुलित कर देगी। क्या इस सन्तुलन को बनाए रखना मनुष्य की जिम्मेदारी नहीं है?

उपर्युक्त प्रश्नों के प्रकाश में पर्यावरणविदों का मानना है कि पशु जगत का संरक्षण मनुष्य का

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

नैतिक कर्तव्य है। यह सही है कि मनुष्य मूल्यसोपान में सबसे ऊपर है, परन्तु जब तक मनुष्य जीवन पर संकट न आये, तब तक पशु–पक्षी या किसी भी जीव की हत्या नैतिक दृष्टि से अनुचित कही जाएगी।

वनस्पति जगत से संबंधित नैतिकताः– जीव जन्तुओं की भाँति, पेड़–पौधे भी हमारे पर्यावरण के आवश्यक भाग हैं, वे प्रकृति से अपना भोजन प्राप्त करते हैं और मनुष्य के लिए भोजन तैयार करते हैं। इस भोजन निर्माण की प्रक्रिया के साथ–साथ वनस्पति जगत वायुमण्डल में निश्चित तापमान एवं ऑक्सीजन के स्तर को बनाए रखते हैं, जो जीवधारियों के रहने एवं सांस लेने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार वनस्पतियों की संरक्षा उनकी उपयोगिता की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही जीवन के प्रति सम्मान की धारणा से भी जुड़ी है।

पशुजगत की तुलना में वनस्पति जगत को संवेदनशील नहीं माना जाता, यद्यपि हम जानते हैं पेड पौधों में भी सूर्य की किरणों के प्रति संवेदनशीलता देखी जाती है। उनमें इच्छा तत्व यद्यपि कम देखा जाता है परन्तु वे सजीव है। इस दृष्टि से उन्हें बिना उचित आधार के काटना जीवनके प्रति असम्मान को प्रकट करता है।

हमने देखा कि मनुष्य के प्रकृति के साथ बदलते संबंधों ने वनो को अंधाधुंध ढंग से नष्ट किया है जिसके परिणामस्वरूप पशुओं से उसका आवास (Habitat) छिनता जा रहा है, साथ ही साथ प्रदूषण का खतरा बढ़ गया है। वनस्पति जगत पर्यावरण के घटको में सन्तुलन बनाए रखने में सहायक है, इसलिए मनुष्य ही नहीं अन्य जीवों और पर्यावरण को बचाने के लिए वनस्पति आवश्यक है। पेड़–पौधे पृथ्वी के तापमान को बनाए रखने, हवा को शुद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, इस दृष्टि से उनका अस्तित्व अपने आप में शुभ है। मनुष्य हरियाली, फूल, फल को देखकर जिस आनन्द का अनुभव करता है, उसका कारण वनस्पति जगत का अन्तस्थ मूल्य है।

उपर्युक्त विवरण स्पष्ट करता है कि वनस्पति जगत का संरक्षण मनुष्य एवं सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए कितना आवश्यक है। हमें वनस्पति का उपभोग भी विवेकपूर्ण ढंग से आवश्यकतानुसार करना चाहिए। वनो को बचाकर, अधिकाधिक वृक्ष लगाकर हम पर्यावरण के प्रति अपने दायित्व को पूरा कर सकते है।

भौतिक पर्यावरण से संबंधित नैतिकताः– भौतिक जगत जड होता है उसके तत्वो में हम इच्छा, जीवन का सम्मान, संवेदनशीलता के गुणों की बात नहीं कर सकते परन्तु इनके प्रति भी मनुष्य के शुभ आचरण की बात करना सार्थक है।

हम जानते हैं कि पर्यावरण जैविक व अजैविक घटकों का संतुलन है। भौतिक जगत हमारे अस्तित्व की आवश्यकताओं को पूरा करता है इसलिए इसके विभिन्न घटको को स्वस्थ रखना एवं विकृति न होने देना मनुष्य का नैतिक उत्तरदायित्व है। इस प्रकार भौतिक जगत का हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उपयोग मूल्य है। हमारा शरीर, हमारा आवास व पर्यावरणीय घटक जिसमें हम सुरक्षा प्राप्त करते है विकास एवं मनोरंजन के साधन प्राप्त करते हैं। यह हमारे लिए साधन रूप में मूल्यवान है परन्तु इन साधनों पर हमारे साथ सभी जीव धारियों का भी अधिकार है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी प्राकृतिक जगत में विकृति पैदा नहीं करता इसलिए भौतिक पर्यावरण को विकृत न होने देना मनुष्य का नैतिक दायित्व है।

मनुष्य के द्वारा इस नैतिक दायित्व को नहीं निभा सकने के कारण मिट्टी, जल व वायु में अवांछनीय तत्वों की उपस्थिति बढ़ी जा रही है, जो क्रमशः मृदा प्रदूषण, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण व ध्वनि प्रदूषण का प्रमुख कारण है।

इस उपयोगितावादी मूल्य से भिन्न अजैविक घटकों का इस ब्रह्माण्ड में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैविक घटकों की अजैविक घटको से अन्तर्क्रिया व अर्न्तसंबंध होते हैं। अजैविक घटकों के स्वरूप में विकृति आने से पारिस्थितिकीय तन्त्र असंतुलित हो जाता है। इस प्रकार स्वस्थ प्राकृतिक जगत का अंतस्थ मूल्य है जिसका मनुष्य को सम्मान करना चाहिए।

हमारे वेदों में भी प्राकृतिक जगत के प्रति सम्मान को इस प्रकार प्रकट किया है–

'यत्ते भूमि विखनामि, क्षिप्रं तदपित रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि, मा ते हृदयमर्पिपम्।।' अथर्ववेद–12.1.35

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अर्थात् हे भूमि, तेरा जो भी भाग मैं खोदूं, वह शीघ्र ही उन्नत या अंकुरित हो जाए। न मैं तुम्हारे मर्मस्थल को आहत करूं, न ही कभी तुम्हारे हृदय को पीडित करूं।

प्रकृति के प्रति इस प्रकार के उदार भावों ने मनुष्य को प्रकृति–प्रेमी तथा कला व साहित्य प्रेमी बनाया जो उसके सांस्कृतिक विकास का सूचक है, जिसमें निरन्तरता उसे आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर करती है।

उक्त नैतिकताओं का उद्देश्य यह नहीं है कि मनुष्य विकास की प्रक्रिया को बन्द ही कर दे इसका प्रयोजन सम्पोषणीय विकास (Sustainable Development) को स्वीकार करना है।

संपोषणीय विकास– पर्यावरण के हित में मनुष्य द्वारा किया जाने वाला टिकाऊ विकास है जिसमें वर्तमान विकास हेतु आवश्यक संसाधन प्राप्त करने के साथ भविष्य हेतु संसाधनों के संरक्षण पर दृष्टि रखी जाती है और मनुष्य एवं प्रकृति के मध्य ऐसा संतुलन प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जो प्रकृति के प्रति संरक्षणवादी हो।

सम्पोषणीय विकास को संयम एवं त्याग की भारतीय परम्परा में इस प्रकार से स्वीकारा गया है–

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। (ईशावास्पोपनिषद्)

अर्थात् इस गतिशील जगत में जो कुछ है, वह ईश्वर या ईशावासमय है। अतः 'त्यागपूर्वक भोग करो, लालच मत करो, यह धन किसका है?

बहुविकल्पात्मक

(1) पर्यावरण नैतिकता है
(अ) पर्यावरण का वर्णन (ब) नीतिशास्त्र का प्रयोगात्मक क्षेत्र
(स) नीतिशास्त्र का सैद्धान्तिक क्षेत्र (द) पवित्रता

(2) भौतिक पर्यावरण का प्रकार नहीं है
(अ) जैवमण्डल (ब) स्थलमण्डल (स) जलमण्डल (द) वायुमण्डल

(3) जैविक एवं अजैविक घटकों के अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है
(अ) नीतिशास्त्र में (ब) पर्यावरण में (स) परिस्थिति की में (द) दर्शनशास्त्र में

(4) वायु में अवांछनीय तत्वों की उपस्थिति कहलाती है
(अ) जल प्रदूषण (ब) जैव प्रदूषण (स) मृदा प्रदूषण (द) वायु प्रदूषण

(5) पशु हत्या करना अनुचित है क्योंकि
(अ) पशु भी संवदेनशील है (ब) धार्मिक पुस्तके ऐसा कहती है
(स) वे बदला लेंगे (द) पाप लगता है

(6) वनस्पति में होती है
(अ) इच्छाएँ (ब) वुद्धि (स) अचेतनता (द) संवेदनशीलता

(7) पर्यावरण के प्रति नैतिककर्त्ता कौन सा हो सकता है
(अ) पशु (ब) मिट्‌टी (स) वनस्पति (द) मनुष्य

(8) भारतीय परम्परा समर्थन करती है
(अ) भोग का (ब) औद्योगिकरण का
(स) मनुष्य की सर्वोच्चता का (द) त्यागपूर्वक भोग का

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) पर्यावरण का क्या अर्थ है?
(2) पर्यावरण के दो घटक कौनसे हैं?
(3) भौतिक पर्यावरण के तीन प्रकार बताइये?
(4) जैविक पर्यावरण के दो भाग कौनसे है?मनुष्य किस भाग से संबंधित है?
(5) प्राकृतिक मानव कौन था?
(6) प्रदूषण किसे कहते हैं?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(7) ग्लोबल वार्मिंग क्या है?
(8) अंतस्थ मूल्य क्या है?
(9) पर्यावरण नैतिकता किसे कहते है?
(10) खाद्य श्रृंखला क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) पर्यावरण की परिभाषा दीजिये?
(2) पारिस्थितिकी की परिभाषा दीजिये?
(3) भौतिक पर्यावरण एवं सांस्कृतिक पर्यावरण में अन्तर समझाइये?
(4) भौतिक पर्यावरण को स्पष्ट कीजिए?
(5) जैविक पर्यावरण को स्पष्ट कीजिए?
(6) सांस्कृतिक पर्यावरण किसे कहते है?समझाइये?
(7) नियतत्त्ववाद की विचारधारा को समझाइये?
(8) संभववाद की विचारधारा को समझाइये?
(9) नवनियतत्त्ववाद को समझाइये?
(10) मानव केन्द्रित मूल्यों को समझाइये?
(11) उपयोगितावादी मूल्य को समझाइये?
(12) संपोषणीय विकास की अवधारणा को समझाइये?

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) पर्यावरण की परिभाषा व स्वरूप को समझाइये?
(2) मनुष्य व प्रकृति में सम्बन्ध को समझाइये?
(3) प्रमुख पर्यावरणीय समस्याओं का वर्णन कीजिए?
(4) पशुजगत के सम्बन्ध में मनुष्य के नैतिक दायित्व को समझाइये?
(5) वनस्पति विषयक आचार संहिता को समझाइये?
(6) भौतिक जगत के संबंध में मनुष्य की नैतिकता को समझाइये?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

6

तर्कशास्त्र का स्वरूप एवं क्षेत्र

6.01 तर्कशास्त्र का स्वरूप एवं क्षेत्र

तर्कशास्त्र को अंग्रेज़ी में लॉजिक कहते हैं,यह ग्रीक शब्द लोगोस (Logos) से बना जिसका अर्थ 'विचार' या 'शब्द' है। तर्क करने का अर्थ है अनुमान करना। तर्कशास्त्र, तर्क अथवा युक्ति का अध्ययन है जिसके द्वारा अवैध तर्क अथवा युक्ति से वैध तर्क अथवा युक्ति में भेद स्पष्ट किया जाता है। तर्कशास्त्र के द्वारा हमें निश्चित एवं तर्कसंगत ज्ञान प्राप्त होता है न कि संभावित और तथ्यात्मक। तर्क वह प्रक्रिया है जिससे हम युक्तियों के जरिए आधार वाक्यों से ज्ञात निष्कर्षों की ओर बढ़ते हैं।

6.1 युक्ति

युक्ति तर्क–वाक्यों का एक समूह होती है, जिसमें एक या अधिक आधार वाक्य और एक निष्कर्ष होता है। आधार वाक्य, निष्कर्ष की स्वीकृति के लिए कारण प्रस्तुत करतें हैं जैसे,

सभी मनुष्य मरणशील हैं
मनोज मनुष्य है
अत : मनोज मरणशील है

यहां सभी मनुष्य मरणशील हैं तथा मनोज मनुष्य है ये 2 आधार वाक्य हैं, और मनोज मरणशील है यह एक निष्कर्ष वाक्य है।

6.02 सत्यता एवं वैधता, भाषा के तीन कार्य

6.1 सत्यता एवं वैधता

सत्यता या असत्यता तर्क–वाक्यों का लक्षण है । सत्यता से तात्पर्य वस्तुनिष्ठता से है, यदि हमारा वर्णन वस्तु के गुणों के अनुरूप होगा तो हमारे कथन सत्य होंगे और यदि हमारा वर्णन वस्तु के गुणों के विपरीत होगा तो हमारे कथन असत्य होंगे अर्थात हमारे कथन सत्य या असत्य होते हैं न की वस्तुएं। उदाहरण के रूप में, (बाहर धूप है) यह कथन तभी सत्य होगा जबकि वास्तव में बाहर धूप होगी अन्यथा यह कथन असत्य हो जाएगा। इस प्रकार सत्यता या असत्यता तर्क–वाक्यों का लक्षण है।

वैधता की धारणा केवल तर्क युक्ति पर लागू होती है तर्क–वाक्यों पर लागू नहीं होती है। वैधता, मुख्यतया आधार–वाक्य और निष्कर्ष का परस्पर सम्बन्ध है, यदि आधार–वाक्य निष्कर्ष के लिए निश्चयात्मक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं तो वह युक्ति वैध होगी अन्यथा वह अवैध होगी। जब कोई युक्ति यह दावा करती है की उसके आधार–वाक्य निष्कर्ष की सत्यता के लिए अकाट्य आधार प्रस्तुत करतें हैं, तभी युक्ति की वैधता का परीक्षण किया जा सकेगा। इस प्रकार केवल निगमनात्मक युक्ति वैध या अवैध होती है क्योंकि तार्किक अनिवार्यता केवल निगमनात्मक युक्ति में ही होती है न कि आगमनात्मक युक्ति में। जब हम यह कहतें हैं कि युक्ति वैध है तो इसका अर्थ है कि यदि उसके सभी आधार वाक्य सत्य हैं तो यह संभव नहीं है कि उसका निष्कर्ष असत्य होगा। इस तरह से निगमनात्मक युक्ति की वैधता का लक्षण यह है कि युक्ति तभी वैध होगी जबकि उसके सारे आधार वाक्य एक साथ सत्य हों तो उसका निष्कर्ष भी सत्य हो और एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं हो जबकि उसके सारे आधार वाक्य एक साथ सत्य हों और निष्कर्ष असत्य हो। यह भी आवश्यक नहीं कि सारे आधार वाक्य सत्य होंगे तभी युक्ति वैध होगी क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि युक्ति के कुछ या सारे आधार वाक्य असत्य हों और युक्ति भी वैध हो। वैधता मूल रूप से आकारगत

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

नियमों पर आधारित होती है।

अतः

युक्तियां वैध या अवैध मूल्यांकित की जाती है।
तर्क–वाक्य सत्य या असत्य मूल्यांकित किये जाते हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा की सत्यता या असत्यता का युक्ति की वैधता से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

सत्य आधार–वाक्य और सत्य निष्कर्ष से युक्त वैध युक्ति का उदाहरण –

सभी गुलाब के फूल सुगन्धित हैं
सभी ताज़े फूल गुलाब के फूल हैं
अतः सभी ताज़े फूल सुगन्धित हैं

असत्य आधार – वाक्य और सत्य निष्कर्ष से युक्त वैध युक्ति का उदाहरण –

सभी पक्षियों के चार पैर होते हैं
सभी बिल्लियाँ पक्षी हैं
अतः सभी बिल्लियों के चार पैर होते हैं

असत्य आधार – वाक्य और असत्य निष्कर्ष से युक्त वैध युक्ति का उदाहरण –

सभी राजस्थानी मेवाड़ी बोलते हैं
सभी बिहारी राजस्थानी हैं
अतः सभी बिहारी मेवाड़ी बोलते हैं

सत्य आधार – वाक्य और सत्य निष्कर्ष से युक्त अवैध युक्ति का उदाहरण –

सभी राजस्थानी भारतीय हैं
सभी बिहारी भारतीय हैं
अतः कोई भी बिहारी राजस्थानी नहीं है

सत्य आधार – वाक्य और असत्य निष्कर्ष से युक्त अवैध युक्ति का उदाहरण –

सभी राजस्थानी भारतीय हैं
सभी बिहारी भारतीय हैं
अतः सभी बिहारी राजस्थानी हैं

असत्य आधार – वाक्य और असत्य निष्कर्ष से युक्त अवैध युक्ति का उदाहरण –

सभी कौवे सफ़ेद होते हैं
सभी मोर काले होते हैं
अतः सभी मोर सफ़ेद होते हैं

असत्य आधार – वाक्य और सत्य निष्कर्ष से युक्त अवैध युक्ति का उदाहरण –

सभी कौवे सफ़ेद होते हैं
सभी खरगोश काले होते हैं
अतः कुछ खरगोश सफ़ेद होते हैं

इस प्रकार उपरोक्त उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक निगमनात्मक युक्ति अपने आधार वाक्यों और निष्कर्ष के बीच निश्चित संबंध का दावा करती है इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि युक्ति में प्रयुक्त आधार वाक्य सत्य है या नहीं क्योंकि मूल बात यह है की आधार वाक्यों और निष्कर्ष के बीच संबंध कैसा है । वैध युक्ति में आधार वाक्य निष्कर्ष को सिद्ध करने के निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जबकि अवैध युक्ति में आधार वाक्य निष्कर्ष को सिद्ध करने के निश्चित प्रमाण नहीं प्रस्तुत करते हैं जबकि अवैध युक्ति में आधार वाक्य निष्कर्ष को सिद्ध करने के निश्चित प्रमाण नहीं प्रस्तुत करते हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

6.2 भाषा के तीन कार्य

भाषा का अर्थ है कहना या बोलना, यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हम अपनी भावनाओं या विचारों को किसी दूसरे के प्रति व्यक्त करते हैं और उसके विचारों और भावनाओं को ग्रहण करते हैं।

सामान्यत: भाषा के तीन कार्य माने जाते हैं,

1. सूचनात्मक,
2. अभिव्यक्तात्मक,
3. निर्देशात्मक।

6.2.1 सूचनात्मक प्रयोग

सूचनात्मक का अर्थ है सूचना प्रदान करना या सूचना ग्रहण करना, इसमें भाषा का प्रयोग वस्तुओं का वर्णन करने और उनके विषय में तर्क परस्तुत करने के लिय होता है। तर्क वाक्यों के माध्यम से तथ्यों को स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है। सूचनाओं के प्रेषण से हम संसार के तथ्यों का वर्णन करते हैं और सत्य, असत्य, के रूप में अपने विचार प्रकट करते हैं। इस तरह से ऐसे सभी विवरण जिनमे किसी घटना या वस्तु की सूचना मिलती है भाषा के सूचनात्मक कार्य को प्रकट करती है। जैसे आज सुबह दस बजे भूकंप आया।

6.2.2 अभिव्यक्तात्मक प्रयोग

अभिव्यक्तात्मक जब भाषा के माध्यम से हम अपनी भावनाओं को प्रकट करते हैं जैसे क्रोध, प्रेम, डर, प्रार्थना, आश्चर्य इत्यादि तब हम भाषा का अभिव्यक्तात्मक प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार जब कोई कवि अपनी कविता के माध्यम से उत्साह, करुणा, दया के भाव जाग्रत करता है वह भाषा का अभिव्यक्तात्मक प्रयोग करता है।अभिव्यकतात्मक भाषा में प्रयुक्त विचार सत्य असत्य नहीं होते बल्कि वह हमारे ।वेदनो को प्रकट करते हैं, ऐसी भाषा का लक्ष्य श्रोताओं में उत्साह, करुणा, दया, प्रेम का भाव जाग्रत करना होता है।

6.2.3 निर्देशात्मक प्रयोग

निर्देशात्मक जब भाषा के माध्यम से किसी व्यक्ति को कोई कार्य करने या नहीं करने की सलाह दी जाती है, तब हम भाषा का निर्देशात्मक प्रयोग करते हैं। भाषा के इस कार्य में न तो किसी वस्तु की जानकारी दी जाती है और न ही अपनी भावनाएं प्रकट की जाती है बल्कि कोई कार्य करने के लिए निर्देश दिया जाता है ,जैसे जब डॉक्टर यह कहता है कि हमे बुखार में आइसक्रीम नहीं खानी चाहिय तो उसका आशय अपनी भावना प्रकट करना नहीं वरन यह कहना है कि यदि हमे स्वस्थ होना है तो अमुख कार्य नहीं करना है। इसी तरह से जब एक कमान्डर सैनिक को फायर करने का आदेश देता है तब उसका आशय केवल निर्देश के पालन से होता है।

6.03 परिभाषा का स्वरूप एवं इसके नियम

परिभाषा से तात्पर्य किसी शब्द, प्रत्यय, प्रतीक को सुव्यवस्थित अर्थ प्रदान करने से है। परिभाषा संकेतों या पदों की होती हैं तथा इनका प्रयोग भाषा की संदिग्धता दूर कर विवादों को हल करने में होता है।

परिभाष्य (**Definiendum**) – जिस प्रतीक या पद को परिभाषित किया जाता है उसे परिभाष्य कहा जाता है।

परिभाषक (**Definies**) – जिन प्रतीकों के माध्यम से परिभाष्य के अर्थ को स्पष्ट किया जाता है उसे परिभाषक कहते हैं, यह अन्य प्रतीकों का समूह होता है।

जैसे यदि त्रिभुज को परिभाषित किया जाए तो यह कहेंगे कि, त्रिभुज तीन सीधी रेखाओं से बनी आकृति होती है जिसके आन्तरिक कोणों का योग 180 डिग्री होता है। इस परिभाषा में त्रिभुज परिभाष्य शब्द है, और ''तीन सीधी रेखाओं से बनी आकृति होती है जिसके आन्तरिक कोणों का योग 180 डिग्री होता है'' यह परिभाषक हैं।

परिभाषा का उद्देश्य शब्द भण्डार में वृद्धि, संदिग्धार्थता का निवारण, अर्थ स्पष्टता आदि होता है। परिभाषा के उद्देश्य के आधार पर ही परिभाषा का प्रकार निर्धारित होता है, जैसे –

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कोशीय परिभाषा का उद्देश्य शब्द भण्डार में वृद्धि करना है, इसका प्रयोग शब्दकोश में किया जाता है।

ऐच्छिक परिभाषा का उद्देश्य किसी नवीन चिन्ह या प्रतीक को परिभाषित करना होता है, ऐसे चिन्ह को अर्थ प्रदान करने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र होता है, जैसे $a^2 = a X a$

निश्चायक परिभाषा का लक्ष्य शब्दों की संदिग्धार्थता दूर करना होता है, जैसे भारत का नागरकि – जो भारत में जन्मा हो।

सैद्धांतिक परिभाषा किसी पद, विशेष शब्द या सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए दी जाती है, जैसे W = F X D अर्थात कार्य = बल X विस्थापन

प्रेरक परिभाषा का उद्देश्य श्रोताओं की भावनाओं को प्रभावित करना होता है ऐसी परिभाषाएं राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक आदि सन्दर्भों में मिलती है। जैसे भगवान – सृष्टि का पालक, धार्मिक परिभाषा है।

6.3.1 परिभाषा के नियम

नियम 1– परिभाषा में उपजाति के आवश्यक गुणों का कथन अवश्य होना चाहिए।

जिस पद को परिभाषित किया जा रहा हो उसके सभी गुणार्थ का वर्णन अवश्य होना चाहिए अर्थात वह न तो ज्यादा हो और न ही कम, जैसे मनुष्य को एक सामाजिक पशु कहा जाता है, तो उसके पशुता और बौद्धिकता के दोनों आवश्यक गुण सम्मिलित होते हैं । इस नियम के उल्लंघन से परिभाषा अपूर्ण या अतिपूर्ण हो जाती है।

नियम 2– परिभाषा चक्रक नहीं होनी चाहिए।

परिभाषा में परिभाष्य पद या उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से परिभाषित पद का अर्थ केवल उन्ही को स्पष्ट होगा जो पहले से ही उसका अर्थ जानते हैं । जैसे मुर्गा मुर्गा है,गज हाथी है, इन परिभाषाओं में एक ही पद की पुनरावृत्ति हो रही है इसलिए यह चक्रक है और परिभाष्य पद का अर्थ स्पष्ट करने में असफल है। इस नियम के उल्लंघन से परिभाषा में चक्रक दोष उत्पन्न हो जाएगा।

नियम 3– परिभाषा न तो अतिव्याप्त और न ही अव्याप्त होनी चाहिए।

परिभाष्य और परिभाषक दोनों पदों की समान व्याप्ति होनी चाहिए, अर्थात परिभाषक पद के आवश्यक और पर्याप्त सभी गुणों का वर्णन होना चाहिए। यदि आवश्यक गुणों का वर्णन नहीं होगा तो परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा और यदि परिभाषा में पर्याप्त गुणों से अधिक का वर्णन होगा तो परिभाषा अव्याप्त हो जाएगी।

नियम 4– परिभाषा में आलंकारिक, संदिग्ध, अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

परिभाषा का उद्देश्य अस्पष्ट पद को स्पष्ट करना परन्तु यदि परिभाषक स्वयं ही आलंकारिक, संदिग्ध, अस्पष्ट होगा तो परिभाषा का उद्देश्य नष्ट होगा और परिभाषा दोषयुक्त हो जाएगी।

नियम 5–परिभाषा को जहाँ तक संभव हो विधेयात्मक होना चाहिए

अर्थात जहाँ तक संभव हो परिभाषा को निषेधात्मकता से बचना चाहिए। परिभाषा को यह स्पष्ट करना चाहिए कि पद का अर्थ क्या है बजाय इसके कि पद क्या नहीं है?जैसे कुर्सी को इस रूप में परिभाषित करना कि यह सोफा नहीं है, न ही यह पलंग है, न ही यह मेज है इसके बजाय यह कहना अधिक उचित होगा कि यह एक लकड़ी से बनी वस्तु है जो बैठने के काम आती है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. तर्कशास्त्र को अंग्रेज़ी में लॉजिक कहते हैं, यह ग्रीक शब्द लोगोस (Logos) से बना जिसका अर्थ 'विचार' या 'शब्द' है।
2. तर्कशास्त्र, तर्क का अध्ययन है जिसके द्वारा असत्य तर्क से सत्य तर्क में भेद किया जाता है।
3. युक्तिः तर्क–वाक्यों का एक समूह होती है,जिसमें एक या अधिक आधार वाक्य और निष्कर्ष होता है।
4. सत्यता या असत्यता तर्क–वाक्यों का लक्षण है ।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

5. वैधता की धारणा केवल तर्क युक्ति पर लागू होती है न की एकल तर्क–वाक्यों पर ।
6. निगमनात्मक युक्ति की वैधता का लक्षण :– सारे आधार वाक्य एक साथ सत्य हों तो उसका निष्कर्ष भी सत्य हो और एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं हो जबकि उसके सारे आधार वाक्य एक साथ सत्य हों और निष्कर्ष असत्य हों ।
7. भाषा का अर्थ है कहना या बोलना, यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हम अपनी भावनाओं या विचारों को किसी दूसरे के प्रति व्यक्त करते हैं और उसके विचारों और भावनाओं को ग्रहण करते हैं।
8. भाषा के तीन कार्य: सूचनात्मक, अभिव्यक्तात्मक और निर्देशात्मक ।
9. परिभाषा से तात्पर्य किसी शब्द, प्रत्यय, प्रतीक को सुव्यवस्थित अर्थ प्रदान करने से है।
10. परिभाषा में उपजाति के आवश्यक गुणों का कथन अवश्य होना चाहिए।
11. परिभाषा चक्रक नहीं होनी होनी चाहिए।
12. परिभाषा न तो अतिव्याप्त और न ही अव्याप्त होनी चाहिए।
13. परिभाषा में आलंकारिक, संदिग्ध, अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए ।
14. परिभाषा को जहाँ तक संभव हो विधेयात्मक होना चाहिए अर्थात परिभाषा को निषेधात्मकता से बचना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

निम्न पदों को बीस शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

1. तर्क
2. सत्यता
3. वैधता
4. भाषा
5. परिभाष्य
6. परिभाषक
7. युक्ति
8. तर्कशास्त्र
9. तर्क–वाक्य
10. निष्कर्ष
11. निषेधात्मक
12. विध्यात्मक
13. चक्रक
14. अवैधता
15. आगमन

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए।

1. सूचनात्मक कार्य
2. अभिव्यक्तात्मक कार्य
3. निर्देशात्मक कार्य
4. निगमनात्मक युक्ति
5. आगमनात्मक युक्ति
6. सत्यता एवं वैधता में भेद कीजिए
7. चक्रक दोष
8. आलंकारिक
9. कोशीय परिभाषा
10. सैद्यांतिक परिभाषा,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

11. निश्चायक परिभाषा
12. प्रेरक परिभाषा
13. अतिव्याप्ति दोष व अव्याप्ति दोष में भेद कीजिए
14. वैध युक्ति एवं अवैध युक्ति

निबंधात्मक प्रश्न

1. निगमनात्मक युक्ति एवं आगमनात्मक युक्ति में स्थित भेद की व्याख्या कीजिए।
2. परिभाषा के लक्ष्य व नियमों की व्याख्या कीजिए।
3. तर्क या युक्ति की वैधता को स्पष्ट कीजिए।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

7

पद एवं तर्क वाक्य

7.01 पद एवं तर्क वाक्यों की परिभाषा एवं वर्गीकरण

तर्क वाक्य से तात्पर्य ऐसे निरपेक्ष वाक्यों से है जो निश्चित रूप से सत्य या असत्य होतें है।, इनका प्रयोग निगमनात्मक युक्ति में किया जाता है। किसी भी निरपेक्ष तर्क वाक्य में उद्देश्य पद के बारे में या तो कुछ स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है अर्थात कुछ निश्चित बात बताई जाती है।

प्रत्येक निरपेक्ष तर्क वाक्य में चार पद होते हैं। परिमाणक (Quantifier), उद्देश्य, विधेय एवं सहायक क्रिया। जैसे

सभी मनुष्य मरणशील हैं।

इस निरपेक्ष तर्क वाक्य में –

''सभी'' शब्द परिमाणक पद है यह तर्क वाक्य के क्षेत्र को निर्धारित करता है तथा संख्या को दर्शाता है जैसे सभी, कोई भी या कुछ इत्यादी।

''मनुष्य'' शब्द उद्देश्य है, इस के बारे में निरपेक्ष वाक्य में चर्चा की जाती है।

'है।' शब्द सहायक क्रिया है यह उद्देश्य और विधेय को जोड़ता है।

''मरणशील'' शब्द विधेय है। इससे उद्देश्य के बारे में या तो कुछ स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है।

मुख्य रूप से निरपेक्ष तर्क वाक्य चार प्रकार के माने गए है। जो निम्न प्रकार से है।

(i) सभी खरगोश तीव्र धावक है।

(ii) कोई भी खरगोश तीव्र धावक नहीं है।

(iii) कुछ खरगोश तीव्र धावक है।

(iv) कुछ खरगोश तीव्र धावक नहीं है।

पहला तर्क वाक्य "सभी खरगोश तीव्र धावक है।", सर्वव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य है इसमें सभी खरगोशों और तीव्र धावकों की बात की गयी है। इस प्रकार के तर्क वाक्य के उद्देश्य पद के सभी सदस्य विधेय पद में सम्मिलित होते है। इस तर्क वाक्य को निम्न प्रकार से दर्शा सकते है।

सभी S P है

(ध्यान देने योग्य है कि प्रतीकात्मक रूप से S का अर्थ है उद्देश्य पद का वर्ग तथा P का अर्थ विधेय पद का वर्ग लिया जाता है।)

दूसरा तर्क वाक्य "कोई भी खरगोश तीव्र धावक नहीं है" यह सर्वव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य कहलाता है इसका उद्देश्य पद विधेय पद से पूरी तरह से भिन्न होता है तथा दोनों पदों के सदस्यों में कोई समानता नहीं होती है। सर्वव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य को निम्न प्रकार से दर्शा सकते है।

कोई भी S P नहीं है।

तीसरा तर्क वाक्य, कुछ खरगोश तीव्र धावक है। यह अंशव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य कहलाता है। इसके उद्देश्य पद के कुछ सदस्य विधेय पद के सदस्य से समानता रखते है। इसे निम्न प्रकार से दर्शा सकते है। अंशव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य के उद्देश्य पद का कम से कम एक सदस्य विधेय पद का सदस्य अवश्य होगा इसीलिए इसे अंशव्यापी तर्क वाक्य कहा जाता है।

कुछ S P है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

चौथा तर्क वाक्य, कुछ खरगोश तीव्र धावक नहीं है।, यह अंशव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य कहलाता है। इस तर्क वाक्य में यह कहा जा रहा है कि उद्देश्य पद का कम से कम एक सदस्य तो ऐसा है जो विधेय पद का सदस्य नहीं है, इसे निम्न प्रकार से दर्शा सकते है।

कुछ S P नहीं है।

परम्परागत रूप से निरपेक्ष तर्क वाक्यों की निम्न प्रकार से व्याख्या की जाती है

सर्वव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य	"A" आकार का तर्क वाक्य कहलाता है
सर्वव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य	"E" आकार का तर्क वाक्य कहलाता है
अंशव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य	"I" आकार का तर्क वाक्य कहलाता है
अंशव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य	"O" आकार का तर्क वाक्य कहलाता है

7.02 पद व्याप्ति, व्याप्त्यर्थ एवं गुणार्थ की परिभाषा

पद व्याप्ति

पद व्याप्ति का अर्थ इस रूप में लिया गया है कि निरपेक्ष तर्क वाक्य का कौन सा पद किस पद में विधमान है इसका निर्धारण इस पर निर्भर करेगा कि निरपेक्ष तर्क वाक्य सम्बंधित पद के सभी सदस्यों को निर्देशित करता है तो वह पद उस तर्क वाक्य में व्याप्त होगा। व्याप्ति संबंध को निरपेक्ष तर्क वाक्यों से निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। पारंपरिक दृष्टि से याप्त्यर्थ अथवा वस्त्वर्थ **(Denotation)** एवं गुणार्थ **(Connotation)** की परिभाषा पाठ के अन्त में दी गई है।

सर्वव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य A आकार के तर्क वाक्य का उद्देश्य पद व्याप्त होता है तथा विधेय पद अव्याप्त होता है। जैसे सभी मनुष्य मरणशील है। इस तर्क वाक्य में मनुष्य पद के सभी सदस्य मरणशील पद में व्याप्त है। और मरणशील पद व्यापक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जितने भी मनुष्य है। वह सभी मरणशील पद में विधमान है। जबकि मरणशील पद अव्याप्त है क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त भी अन्य प्राणी मरणशील है। जैसे पशु, पक्षी,या अन्य जीवित प्राणी।

सर्वव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य E आकार के तर्क वाक्य का उदाहरण लेते हैं। "कोई भी कुत्ता बिल्ली नहीं है" इस वाक्य में उद्देश्य पद यानि "कुत्ता" पूरे वर्ग को निर्देशित कर रहा है कि इसका कोई भी सदस्य विधेय पद यानि "बिल्ली" में विधमान नहीं है इसीलिए उद्देश्य पद व्याप्त है। जब हम विधेय पद यानि बिल्ली पर गौर करते है। तब यही बात इस पर भी लागु होती दिखाई देती है कि इस वर्ग का कोई भी सदस्य उद्देश्य पद में विधमान नहीं है। क्योंकि कोई भी बिल्ली कुत्ता नहीं है। इस प्रकार E आकार के तर्क वाक्य के उद्देश्य और विधेय दोनों पद व्याप्त है।

अंशव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य I के आकार का उदाहरण है, "कुछ खरगोश तीव्र धावक है। इस तर्क वाक्य का उद्देश्य पद खरगोश है, इसमें खरगोश वर्ग की पूरी जाति के बारे में निर्देश नहीं दिया गया है केवल कुछ ही खरगोशों के बारे में कहा गया है इसलिए यह पद अव्याप्त है। इसी प्रकार विधेय पद तीव्र धावक के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है कि यह पूरे वर्ग को निर्देशित नहीं करता है, केवल आंशिक सदस्यों की चर्चा करता है इसलिए I आकार के तर्क वाक्य के उद्देश्य और विधेय दोनों पद अव्याप्त है।

अंशव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य O के आकार का उदाहरण है, "कुछ खरगोश तीव्र धावक नहीं हैं।" यह तर्क वाक्य भी उद्देश्य पद को व्याप्त नहीं करता है क्योंकि वर्ग के कुछ ही सदस्यों को यह निर्देशित करता है और सभी खरगोशों के वर्ग के बारे में निर्देश नहीं करता। परन्तु इस प्रकार के तर्क वाक्य का विधेय पद व्याप्त होता है क्योंकि वह वर्ग के संपूर्ण सदस्यों को निर्देश देता है। इस प्रकार अंशव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य का उद्देश्य पद अव्याप्त और विधेय पद व्याप्त होता है।

संक्षेप में हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गुण की दृष्टि से तर्क वाक्यों का वर्गीकरण करने पर यह पता चला कि विध्यात्मक तर्क वाक्यों A और I का विधेय पद अव्याप्त होता है और निषेधात्मक तर्क वाक्यों E और O का विधेय पद व्याप्त होता है। वाक्यों की परिमाण के आधार पर व्याख्या करने पर यह पता चला कि सर्वव्यापी तर्क वाक्यों A और E का उद्देश्य पद व्याप्त होता है और अंशव्यापी तर्क वाक्यों I और O का उद्देश्य पद अव्याप्त होता है। इस प्रकार तर्क वाक्यों का गुण विधेय पद की व्याप्ति

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

का निर्धारण करता है जबकि तर्क वाक्यों का परिमाण उद्देश्य पद की व्याप्ति का निर्धारण करता है। पदों की व्याप्ति को निम्न तालिका के माध्यम से भी दर्शाया जा सकता है।

तर्क वाक्य	उद्धेश्य पद	विधेय पद
A= सभी S P है।	व्याप्त है	अव्याप्त है
E= कोई S P नहीं है।	व्याप्त है	व्याप्त है
I=कुछ S P है।	अव्याप्त है	अव्याप्त है
O=कुछ S P नहीं है।	अव्याप्त है	व्याप्त है

7.03 तर्क वाक्यों के बीच संबंध, प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र व आधारभूत सत्यता सारणियां

7.3.1 तर्क वाक्यों के बीच संबंध

निरपेक्ष तर्क वाक्यों के बीच संबंध को परम्परागत विरोध वर्ग के माध्यम से समझा जा सकता है।

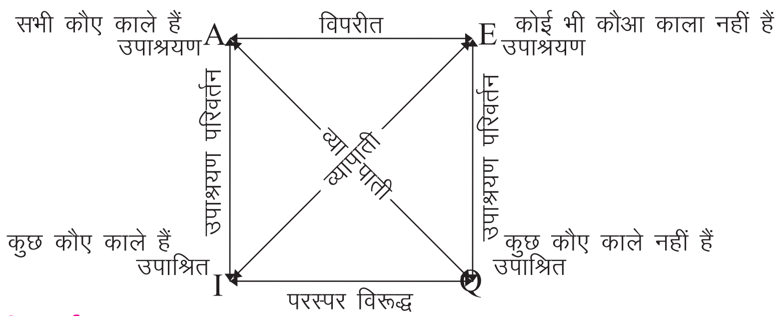

7.3.2 व्याघाती तर्क वाक्य (Contradictory)

जब एक ही उद्देश्य और विधेय वाले तर्क वाक्यों में परस्पर अस्वीकृति हो तथा गुण और परिमाण में भी भिन्नता हो और दोनों एकसाथ न तो सत्य हो सकते हो और न ही एक साथ असत्य हो सकते हों तो उन्हें परस्पर व्याघातक कहा जाता है। A और O प्रकार के तर्क वाक्य परस्पर व्याघाती हैं इसी प्रकार E और I के वाक्य भी परस्पर व्याघाती हैं।सभी कौए काले हैं, और कुछ कौए काले नहीं हैं, यह दोनों कथन एक साथ सत्य नहीं हो सकते, इनमें से एक वाक्य सत्य है तो दूसरा निश्चित रूपसे असत्य होगा। इसी प्रकार E और I तर्क वाक्य भी परस्पर व्याघाती हैं क्योंकि यह गुण और परिमाण दोनों में ही विरुद्ध हैं।

7.3.3 विपरीत तर्क वाक्य (Contrary)

जब एक ही उद्देश्य और विधेय वाले दो तर्क वाक्य एक साथ सत्य नहीं हो सकते तब उन्हें परस्पर विपरीत कहा जाता है। यदि एक तर्क वाक्य सत्य होगा तो दूसरा तर्क वाक्य निश्चित रूप से असत्य होगा। जैसे A तर्क वाक्य सभी कौए काले हैं यह वाक्य सत्य है तो E तर्क वाक्य कोई भी कौवा काला नहीं है असत्य ही होगा। परन्तु विपरीत तर्क वाक्य दोनों एकसाथ असत्य हो सकते हैं यदि वह यथार्थ वाक्य हों जैसे सूर्य पर रहने वाले सभी मनुष्य अमर हैं यह वाक्य असत्य है और कोई भी सूर्य पर रहने वाला मनुष्य अमर नहीं है यह वाक्य भी असत्य है क्योंकि सूर्य पर जीवन ही संभव नहीं है इसलिए दोनों ही वाक्य असत्य ही होंगे।

7.3.4 परस्पर विरुद्ध (Subcontrary)

जब एक ही उद्देश्य और विधेय वाले दो तर्क वाक्य एकसाथ असत्य नहीं हो सकते परन्तु एकसाथ सत्य हो सकते हों तब उन्हें परस्पर विरुद्ध कहा जाता है। जैसे I और O प्रकार के तर्क वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं। इस प्रकार I तर्क वाक्य, कुछ राजनेता इमानदार हैं सत्य है O प्रकार का तर्क वाक्य, कुछ राजनेता इमानदार नहीं हैं यह भी सत्य है, इस प्रकार यह दोनों वाक्य एकसाथ सत्य हो सकते हैं,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

परन्तु यह दोनों एक साथ असत्य नहीं हो सकते। अतः एक तर्क वाक्य के असत्य होने पर दूसरा निश्चित रूपसे सत्य ही होगा।

7.3.5 उपाश्रयण

जब एक ही उद्देश्य, विधेय और। समान गुण वाले दो तर्क वाक्यों का परस्पर सम्बंध देखा जाता है, जबकि एक तर्क वाक्य सर्वव्यापी हो और दूसरा अंश्व्यापी तब सर्वव्यापी तर्क वाक्य को उपाश्रयण कहा जाता है। जैसे

सभी मनुष्य मरणशील हैं (सभी S P हैं) उपाश्रयण
कुछ मनुष्य मरणशील हैं (कुछ S P हैं) उपाश्रित

इसी प्रकार

कोई भी मनुष्य पक्षी नहीं हैं (कोई भी S P नहीं हैं) उपाश्रयण
कुछ मनुष्य पक्षी नहीं हैं (कुछ S P नहीं हैं) उपाश्रित

इस प्रकार सर्वव्यापी तर्क वाक्य A तथा E उपाश्रयण कहलाते हैं और अंशव्यापी तर्क वाक्य I और O उपाश्रित कहलाते हैं। उपाश्रयण और उपाश्रित तर्क वाक्यों के सम्बन्ध से उपाश्रित तर्क वाक्यों की सत्यत से निगमित की जा सकती है। जैसे, "सभी मनुष्य मरणशील हैं" तर्क वाक्य सत्य है तो उसका अंशव्यापी तर्क वाक्य, "कुछ मनुष्य मरणशील हैं" भी सत्य ही होगा और यही बात E प्रकार के तर्क वाक्य "कोई भी मनुष्य पक्षी नहीं हैं "और O प्रकार के तर्क वाक्य, "कुछ मनुष्य पक्षी नहीं हैं" के बारे में भी कही जा सकती है। उपाश्रयण और उपाश्रित तर्क वाक्यों के सम्बन्ध से केवल उपाश्रित वाक्यों की सत्यता ही ज्ञात की जा सकती है न की सर्वव्यापी उपाश्रयण तर्क वाक्यों की। अर्थात हम यह नहीं कह सकते कि, "कुछ छात्र शरारती हैं" वाक्य सत्य है तो "सभी छात्र शरारती होंगे" यह भी सत्य होगा। इसी तरह से "कुछ राजनेता ईमानदार नहीं हैं" वाक्य सत्य है तो कोई भी राजनेता ईमानदार नहीं हैं इस वाक्य की सत्यता नहीं निकली जा सकती, क्योंकि सर्वव्यापी तर्क वाक्य से ही अंशव्यापी तर्क वाक्य की सत्यता ज्ञात इस सम्बन्ध से ज्ञात की जा सकती है न की इसके विपरीत।

7.3.2 प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र व आधारभूत सत्यता सारणियां

भाषा में प्रयुक्त शब्दों की अस्पष्टता, अनेकार्थकता ,भावात्मकता को दूर करने के लिए तर्कशास्त्रियों ने प्रतीकों का प्रयोग करना आरंभ किया। प्रतीक भाषा की कठिनाईयों को दूर करके युक्ति की वैधता या अवैधता का आसानी से वर्गीकरण करते हैं, इसीलिए आधुनिक निगमनात्मक तर्कशास्त्र में वाक्ययोजकों के लिए निम्न प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। संयोजन, (and) इस वाक्य योजक के द्वारा दो या अधिक सरल वाक्यों को जोड़कर संयुक्त वाक्य बनाया जाता है। जैसे "गुलाब का फूल सुन्दर है" और "गुलाब का फूल सुगन्धित है", इनके संयोजन से यह संयुक्त वाक्य बनेगा, "गुलाब का फूल सुन्दर और सुगन्धित है"। इस संयुक्त वाक्य में 'और' शब्द संयोजन है इसे "•" बिन्दु के चिन्ह से दर्शाया जाता है। यदि "गुलाब का फूल सुन्दर है" वाक्य को P मान लिया जाए और "गुलाब का फूल सुगन्धित है" वाक्य को Q मान लिया जाए तो इस संयुक्त वाक्य को प्रतीकों के द्वारा इस प्रकार दर्शाया जाता है

P = गुलाब का फूल सुन्दर है और Q = गुलाब का फूल सुगन्धित है

गुलाब का फूल सुन्दर है • गुलाब का फूल सुगन्धित है

$$P \cdot Q$$

संयोजन से बनने वाला वाक्य तभी सत्य होता है जबकि इसके दोनों सरल वाक्य एक साथ सत्य हों , जैसे उपरोक्त वाक्य में यह जरुरी है कि गुलाब का फूल सुन्दर भी हो तथा गुलाब का फूल सुगन्धित भी हो तभी यह संयुक्त वाक्य सत्य होगा, अन्य सभी परिस्तिथियों में इसका सत्यता मूल्य असत्य ही होगा। संयुक्त वाक्य का सत्यता मूल्य उसके सरल वाक्यों की सत्यता पर निर्भर करती है, इसकी निम्न स्थितियाँ बनती हैं –

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

जब p सत्य हो और q सत्य हो, P•Q सत्य होगा।
जब p सत्य हो और q असत्य हो, P•Q असत्य होगा।
जब p असत्य हो और q सत्य हो, P•Q असत्य होगा।
जब p असत्य हो और q असत्य हो, P•Q असत्य होगा।

उपरोक्त स्थितियों को निम्न सत्यता सारिणी से दर्शाया जा सकता है, इसमें सत्यता–मूल्यों के सत्य (True) मान के लिए T तथा असत्य (False) मान के लिए F माना गया है।

P	Q	P•Q
T	T	T
T	F	F
F	T	F
F	F	F

सत्यता सारिणी निम्न सूत्र से बनाई जाती हैं, 2^n यहाँ पर n का अर्थ चर से है अर्थार्त संयुक्त वाक्य के जितने घटक हैं जैसे "गुलाब का फूल सुन्दर है" इस वाक्य को P और "गुलाब का फूल सुगन्धित है" इस वाक्य को Q मान लिया जाय तो इसकी सारिणी निम्न सूत्र से बनाई जा सकती है।

$22 = 2 \times 2 = 4$ इस सूत्र में 2 का अर्थ सत्य 'T' तथा असत्य 'F' से है।

उपरोक्त सारिणी बनाने में पहले खण्ड में P वाक्य दुसरे खण्ड में Q वाक्य तथा अंतिम खण्ड में P-Q है। चरों की कुल संख्या 2 दो है P और Q, इसलिय P खण्ड के नीचे TTFF और Q खण्ड के नीचे TFTF है। अंतिम खण्ड संयोजन का है इसमें केवल पहली पंक्ति में ही T अर्थात सत्य है अन्य सभी संयोजन के दृष्टान्त असत्य हैं।

7.3.3 निषेध (Negation)

यह "नहीं" शब्द को दर्शाता है,किसी भी वाक्य का खण्डन करने के लिए निषेध का प्रयोग किया जाता है। जैसे "सभी मनुष्य मरणशील हैं "इस वाक्य का खण्डन किया जाए तो यह कहा जायगा कि "यह असत्य है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं", या सभी मनुष्य मरणशील नहीं हैं।

प्रतीकात्मक तर्क शास्त्र में निषेध को '~' प्रतीक से दर्शाया जाता है। इसका सत्यता मूल्य निम्न प्रकार से सत्यता सारिणी से ज्ञात किया जा सकता है यदि "सभी मनुष्य मरणशील हैं "वाक्य को P माना जाए तो इसका निषेध होगा ~P अर्थात् ~(सभी मनुष्य मरणशील हैं) इसे निम्न सारिणी से व्यक्त किया जा सकता है।

P	P
T	T
F	F

7.3.4 विकल्प (Disjunction)

यह हिन्दी के शब्द "या" (or) को दर्शाता है ,जब दोसरल वाक्यों को जोड़ने के लिए या शब्द का प्रयोग हो तो उसे विकल्प कहते हैं। इसका प्रतीक v है। जैसे "आम खायेंगे या सेब खायेंगे", P v Q विकल्प का प्रयोग दो अर्थ में किया जाता है, निर्बल अर्थ और सबल अर्थ।

सबल अर्थ, जब केवल एक वाक्य के सत्य होने पर ही मिश्रत वाक्य को सत्य माना जाता है जैसे "या तो तुम क्रिकेट खेल सकते हो या फिर फुटबाल" इस वाक्य का अर्थ है कि दोनों में से केवल एक ही कार्य किया जा सकता है तभी इसका परिणाम सत्य होगा।

निर्बल अर्थ, जब विकल्प से युक्त दो कथनों में से एक भी वाक्य सत्य होता है तब भी उसे सत्य माना जाता है ,अर्थार्त कम से कम एक, इस स्थिति में मिश्रित वाक्य केवल तभी असत्य होता है जबकि उसके दोनों वाक्य घटक असत्य हों अन्य सभी परिस्थिति में इसका परिणाम सत्य ही होता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में विकल्प का प्रयोग इसी रूप में होता है। इसे निम्न सारिणी से दर्शाया जा। सकता है।

P	Q	PVQ
T	T	T
T	F	T
F	T	T
F	F	F

7.3.5 शाब्दिक प्रतिपत्ति (Material Implication)

यह वाक्य योजक सशर्त वाक्य को व्यक्त करता है, यह दो वाक्यों को 'यदि' और 'तो' के माध्यम से जोड़ता है। शाब्दिक प्रतिपत्ति के द्वारा पहले वाक्य के पूर्व में 'यदि' और दूसरे वाक्य के पूर्व में 'तो' शब्द जोड़ा जाता है, जैसे "**यदि** परिश्रम करोगे **तो** अच्छे अंक मिलेंगे"। शाब्दिक प्रतिपत्ति से बना संयुक्त वाक्य एक ही स्तिथि में असत्य होगा जब पहला वाक्य सत्य हो और बाद का वाक्य असत्य हो अन्य सभी परिस्थितियों में इसका परिणाम सत्य होता है। शाब्दिक प्रतिपत्ति का प्रतीक ⊃ होता है जो घोड़े की नाल आकृति का होता है।

इसे निम्न सारिणी से दर्शाया जा सकता है

P	Q	P⊃Q
T	T	T
T	F	F
F	T	T
F	F	T

7.3.6 शाब्दिकसम (Material Equivalance)

यह हिन्दी के शब्द "यदि और केवल यदि" को दर्शाता है, यह भी सशर्त वाक्य योजक है ,इसका प्रतीक चिन्ह यह है। दो वाक्य शाब्दिकसम तब होते हैं जबकि वह दोनों ही सत्य हों या फिर दोनों ही असत्य हों , अन्य सभी परिस्थितियों में इसका सत्यता मूल्य असत्य ही होगा। शाब्दिकसम की सत्यता सारिणी इस प्रकार है।

P	Q	P≡Q
T	T	T
T	F	F
F	T	F
F	F	T

7.02;शेषद्ध व्याप्त्यर्थ (Denotation) एवं गुणार्थ (Connotation) की परिभाषा

व्याप्त्यर्थ या वस्त्वर्थ को अंग्रेज़ी में डिनोटेशन कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, to mark down अर्थात व्यक्तियों या वस्तुओं आदि को निर्देशित करना। इस प्रकार व्याप्त्यर्थ परिभाषा के द्वारा उन व्यक्तियों या वस्तुओं आदि के बारे में बताया जाता है जिनके लिए पद का प्रयोग होता है जैसे 'मनुष्य' पद से आशय राकेश, अनिल, सतीश आदि व्यक्ति के रूप में मनुष्य से है।

गुणार्थ को अंग्रेज़ी में कोनोटेशन कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, to mark with अर्थात् व्यक्ति विशेष केसाथ उसके सार एवं सामान्य गुण व्यक्त करना। इस तरह से गुणार्थक परिभाषा उन विशेषताओं को बताती है जो उस पद में समान रूपसे स्थित हों जैसे मनुष्य पद में बौद्धिकता और पशुता दोनों गुण सर्वनिष्ठ एवं अनिवार्य हैं।

वस्त्वर्थ एवं गुणार्थ में व्युत्क्रमानुपाती संबंध रहता है। अतः जब किसी पद का वस्त्वर्थ बढता है तो उसका गुणार्थ घटता है और जब किसी पद का गुणार्थ बढता है तो उसका वस्त्वर्थ घटता है। वस्त्वर्थ एवं गुणार्थ परस्पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिये **गुरु** शब्द को लें, **गुरु** का वस्त्वर्थ **अध्यापक** होता है और **गुरु** का गुणार्थ **भारी** होता है। इस प्रकार किसी उच्च या कठिन कार्य को करने

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

दायित्व, गुरुत्तर दायित्व कहलाता है तो यहां गुरु का गुणार्थ प्रकट हुआ है वहीं अध्यापक या शिक्षक को गुरु कहना गुरु का वस्त्वर्थ प्रकट करता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. निरपेक्ष तर्क वाक्य निश्चित रूपसे सत्य या असत्य होतें हैं
2. निरपेक्ष तर्क वाक्य चार प्रकार के माने गए हैं जो निम्न प्रकार से हैं।

सर्वव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य	"A"	तर्क वाक्य कहलाता है
सर्वव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य	"E"	तर्क वाक्य कहलाता है
अंशव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य	"I"	तर्क वाक्य कहलाता है
अंशव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य	"O"	तर्क वाक्य कहलाता है

3. पद व्याप्तिः व्याप्ति का अर्थ इस रूप में लिया गया है कि निरपेक्ष तर्क वाक्य का कौनसा पद किस पद में विधमान है
4. प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का लक्ष्य भाषा में प्रयुक्त शब्दों की अस्पष्टता, अनेकार्थकता, भावात्मकता को दूर करना है इसलिए तर्कशास्त्रियों ने प्रतीकों का प्रयोग।
5. वस्त्वर्थ को अंग्रेज़ी में डिनोटेशन कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, to mark down अर्थात व्यक्तियों को निर्देशित करना।
6. गुणार्थ को अंग्रेज़ी में कोनोटेशन कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, to mark with अर्थात व्यक्ति विशेष केसाथ उसके सार एवं सामान्य गुण व्यक्त करना।
7. सत्यता सारिणी सूत्र 2^n यहाँ पर चर n का अर्थ प्रतीकों की संख्या से है।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्न पदों को बीस शब्दों में स्पष्ट कीजिए

1. परिमाणक
2. उद्देश्य पद
3. विधेय
4. गुणार्थ
5. वस्त्वर्थ
6. निषेध (Negation)
7. सर्वव्यापी तर्क वाक्यों में पदों की व्याप्ति
8. अंशव्यापी तर्क वाक्यों में पदों की व्याप्ति
9. परस्पर विरुद्ध (Subcontrary)
10. अंशव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य
11. सर्वव्यापी निषेधात्मक तर्क वाक्य
12. अंशव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य
13. सर्वव्यापी विध्यात्मक तर्क वाक्य
14. निर्बल अर्थ
15. सबल अर्थ

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए

1. परस्पर विरुद्ध तर्क वाक्य
2. विकल्प (Disjunction)
3. संयोजन (Conjunction)
4. विपरीत तर्क वाक्य
5. उपाश्रयण तर्क वाक्य

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

6. उपाश्रित तर्क वाक्य
7. व्याघाती तर्क वाक्य (Contradictory)
8. पद व्याप्ति
9. शाब्दिकसम (Material equivalance)
10. शाब्दिक प्रतिपत्ति (Material Implication)
11. निरपेक्ष तर्क वाक्य के प्रकार
12. शाब्दिकसम की सत्यता सारिणी बनाइये
13. सर्वव्यापी तर्क वाक्य
14 अंशव्यापी तर्क वाक्य
15. निषेधसात्मक तर्क वाक्य

निबंधात्मक प्रश्नः

1. तर्क वाक्य क्या है?उदाहरणसहित उनका वर्गीकरण कीजिए।
2. तर्क वाक्यों वर्गीकरण कीजिए एवं उनमें व्याप्तिसम्बंध की व्याख्या कीजिए।
3. वाक्य योजक क्या हैं?सत्यता सारिणी की सहायता से उनका सत्यता मूल्य ज्ञात कीजिए।
4. वाक्य योजकों की व्याख्या उदाहरण सहित कीजिए।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

8

विज्ञान एवं प्राक्कल्पना

हम विज्ञान के युग में जी रहे हैं। विज्ञान मनुष्य का ही आविष्कार है। हमारे अन्दर वस्तुओं एवं घटनाओं को देखकर उन्हें जानने की इच्छा होती है। उन्हें जानकर हमें अच्छा अनुभव होता है। मनुष्य की जिज्ञासा तथा जिज्ञासा शान्त होने के बाद जो आनन्द प्राप्त होता है वहीं विज्ञान का प्रेरक रहा है। वर्तमान में प्रकृति एवं उसके रहस्यों को जानने में विज्ञान हमारा सहायक रहा है इन रहस्यों को समझकर ही नये–नये अविष्कार किये गए हैं। इनके द्वारा मानव जीवन सुविधा पूर्ण होता जा रहा है। स्वास्थ्य, शिक्षा, संचार, परिवहन, रहन–सहन का तरीका सभी क्षेत्रों में विज्ञान का बोलबाला है। विज्ञान इस दृष्टि से हमारी जिज्ञासाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जिसके लिए वह वैज्ञानिक नियमों एवं सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है। ये वैज्ञानिक नियम और सिद्धान्त निरीक्षण एवं प्रयोग पर आधारित होते हैं। निरीक्षण एवं प्रयोग की ओर बढ़ने के लिए मनुष्य की सूझबूझ एवं कल्पना की आवश्यकता होती है। प्रकृति में अनगिनत तथ्य है। विज्ञान तथ्यों से बनता है। यह उसी भांति है जैसे मकान पत्थर या ईंटो से बनता है। जिस प्रकार प्रत्थरों को इकट्ठा करने से मकान नहीं बनता उसी प्रकार तथ्यों को एकत्रित करने से भी विज्ञान नहीं बनता।

विज्ञान में निरीक्षण किया जाता है परन्तु तथ्यों के मध्य सम्बन्ध का निरीक्षण प्रत्यक्ष रूप से सम्भव नहीं है इसलिए उसे जानने के लिए अटकल या कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। यह कल्पना ही आगे बढ़ने का मार्ग सुझाती है। हमारी द्वारा सोची गई अटकल या अंदाजा गलत भी हो सकता है। गलत होने पर उसे छोड़कर दूसरी अटकल या कल्पना करते हैं। इस प्रकार प्राक्कल्पना निर्माण का कार्य किया जाता है। विज्ञान में प्राक्कल्पना नियमों एवं सिद्धान्तों की रचना में मदद करती है।

8.01 विज्ञान एवं प्राक्कल्पना की परिभाषा

''विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसमें तथ्यों का अध्ययन व्यवस्थित, निष्पक्ष व तटस्थ ढंग से किया जाता है तथा अध्ययन व निष्कर्ष का आधार निरीक्षण व प्रयोग होते हैं। इन निरीक्षण व प्रयोगों की सहायता से विज्ञान में सामान्य सिद्धान्तों एवं वैज्ञानिक नियमों को प्रस्तुत किया जाता है जो सदैव परीक्षणीय होते हैं।''

इस प्रकार विज्ञान एक विशिष्ट ढंग से ज्ञान प्राप्ति का तन्त्र स्वीकारा जाता है जिसके निरीक्षण और प्रयोग प्रमुख साधन है जिनकी सहायता से सामान्य सिद्धान्तों और नियमों की प्राप्ति की जाती है। विज्ञान के तथ्य अनुभवाश्रित होते है तथा परीक्षण योग्य होते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान में तथ्यों की व्यवस्था जानने के लिए पूर्वकल्पना की जाती है इस पूर्वकल्पना के मूल में पर्याप्त प्रमाण नहीं होते परन्तु पूर्वज्ञात तथ्यों के आधार पर सम्भावित निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार पूर्वकल्पना निरीक्षण व प्रयोग को उद्देश्य प्रदान करती है। जैसे चीजों को धरती की ओर आते देख न्यूटन ने पृथ्वी में आकर्षण शक्ति की कल्पना की जिसे बाद में सिद्ध किया गया। जहाँ पर पूर्व निरीक्षण व प्रयोग करना सम्भव नहीं होता जैसे खगोल विज्ञान में, वहां कारण कार्य नियम के आधार पर पूर्वकल्पना बनाई जाती है और निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। नेपचुन ग्रह (Neptune) की खोज इस कारण कार्य के आधार पर की गई कि सभी ग्रह एक दूसरे से आकर्षण के प्रभाव से टिके हुए है। सभी ग्रहों की गतिविधियों की गणितीय गणना करने पर लगा कि ज्ञात ग्रहों के अलावा एक और ग्रह इस मार्ग में है जिसका गुरूत्वाकर्षण भी वहाँ प्रभाव डाल रहा है। बाद में यह प्राक्कल्पना सिद्ध हुई।

इस प्रकार ''प्राक्कल्पना (Hypothesis) किसी घटना की व्याखा के लिए अथवा उसके कारण के

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

रूप में, अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर की गई कोई कामचलाऊ कल्पना है, जो पूर्णतः सिद्ध या असिद्ध होने के लिए और अधिक प्रेक्षण और प्रयोग की अपेक्षा रखती है।''

विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान के लिए प्राक्कल्पना बहुत सहायक होती है। विज्ञान की प्रत्येक खोज का आधार कोई न कोई कामचलाऊ कल्पना अवश्य होती है और इस कामचलाऊ कल्पना का निर्माण मनमर्जी से नहीं होता वह वास्तविक तथ्यों से संगति रखती है। जैसे कमरे में, यदि रोज मिलने वाली कुर्सी कभी ना मिले तो यह कल्पना की जाती है कि कोई ले गया होगा। यह उचित कल्पना है परन्तु कहा जाय कि कुर्सी अपने आप गायब हो गयी तो उसे उचित नहीं माना जाएगा। इस प्रकार प्राक्कल्पनाओं को वैज्ञानिक व अवैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं के आधार पर पहचाना जाता है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पना बौद्धिक एवं तर्क संगत होती है तथा प्राकृतिक नियमों के विरूद्ध नहीं होती है इस प्राक्कल्पना का लक्ष्य निश्चित वैज्ञानिक अनुसंधान होता है तथा यह परीक्षण की अपेक्षा रखती है जबकि अवैज्ञानिक प्राक्कल्पना निराधार, बेतुकी होती है, प्राकृतिक तथ्यों से असंगतता रखती है और परीक्षण के लिए संभावना भी नहीं रखती।

जैसे – विद्यालय में किसी के देर से आने पर यह कल्पना कि रास्ते में दुर्घटना होने के कारण वह देर से पहुंचा। इस कथन का परीक्षण सम्भव है परन्तु यह कल्पना कि 'ईश्वर की मर्जी थी इसलिए वह आज देर से आया'। इस कथन का परीक्षण संभव नहीं है।

वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के उक्त स्वरूप के आधार पर मिल ने प्राक्कल्पना की निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तुत की।

''परिकल्पना कोई भी कल्पना है जिसे हम इसलिये बनाते हैं (या तो वास्तविक प्रमाण के बिना या पर्याप्त प्रमाण के बिना) कि उससे ऐसे निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया जाये जो तथ्यों के अनुसार हो और जिनका सत्य होना ज्ञात हो, और इसके पीछे यह विचार होता है कि यदि परिकल्पना के निष्कर्ष हमें ज्ञात सत्य तक ले जाते हैं तो या तो यह सत्य होगी अथवा इसके सत्य होने की संभावना होगी।''

"A hypothesis is any supposition which we make (neither without actual evidence or an evidence avowedly insufficient) in order to endeavour to deduce from it conclusion in accordance with facts which are known to be real, under the idea that if the conclusion to which the hypothesis leads are known truths, the hypothesis itself either must be or at least likely to be true." ..... Mill

8.2 वैज्ञानिक प्राक्कल्पना का स्वरूप, प्रकार एवं उपयोगिता

विज्ञान का सम्बन्ध तथ्यों से होता है परन्तु अनेक विषयों में यह प्राक्कल्पना की सहायता लेता है क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है। प्राक्कल्पना मात्र कल्पना या मानसिक उड़ान भर नहीं होती है ना ही इसके मूल में कोई पूर्वाग्रह या अन्धविश्वास होता है। यह तथ्यों को स्पष्ट करने के साथ–साथ प्राकृतिक तथ्यों से संगतता रखती है तथा इसके आधार पर किया गया अनुमान निश्चित व परीक्षा योग्य होता है।

अन्ध विश्वास पर आधारित व्याख्या को बिना परीक्षा के ही पूर्ण सत्य मान लिया जाता है। यह अवैज्ञानिक विश्वास होता है जिसमें सत्य के प्रश्न पर विचार करने का कोई तार्किक (तर्कयुक्त) मार्ग नहीं स्वीकारा जाता जैसे खगोलीय पदार्थों की गति के संबंध में भूत प्रेत संबंधी विश्वास या ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए मानव बलि का विश्वास। इस प्रकार के लोगों का मनोभाव रूढ़ व जड़ होता है जबकि वैज्ञानिक का मनोभाव प्राक्कल्पना को प्रस्तावित व्याख्या मात्र मानता है उसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त साक्ष्य व प्रमाण निष्पक्ष अनुसंधान से जुटाता है। यदि प्राक्कल्पना असिद्ध होती है तो उसे त्याग देता है और नयी तथ्यों के अनुकूल प्राक्कल्पना स्वीकार करता है। जैसे – विज्ञान में पहले टॉल्मी की व्याख्या स्वीकारी गई थी कि पृथ्वी के चारों ओर सूर्य चन्द्रमा आदि ग्रह चक्कर लगाते हैं। बहुत दिनों तक वैज्ञानिकों ने इस व्याख्या से काम चलाया। बाद में यह प्राक्कल्पना असिद्ध हो गई और कापरनिकस की प्राक्कल्पना सिद्ध हुई कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है।

वैज्ञानिक व्याख्याएँ परम्परा तथा लोकप्रियता के आधार पर भी नहीं स्वीकारी जाती है। इसे स्वीकृति के योग्य केवल उस सीमा तक माना जाता है जहां तक इसके लिए प्रमाण होता है। अनुभूति

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

योग्य प्रमाण वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं की अन्तिम अदालत है इससे अंसगत होते ही प्राक्कल्पना का त्याग कर दिया जाता है।

वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं में जो व्याख्या प्रस्तुत की जाती है उस तर्कवाक्य के अतिरिक्त प्रत्यक्ष (Direct) या परोक्ष (Indirect) तर्क वाक्य भी प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जाते है। जैसे न्यूटन के गति के नियमों के लिए अनुभव आधारित प्रमाण दिये जा सकते है। परन्तु जो प्राक्कल्पनाएँ अवैज्ञानिक होती है उसमें व्याख्या प्रस्तुत करने वाले तर्कवाक्य के अतिरिक्त कोई तर्कवाक्य रूप में प्रमाण नहीं दिया जा सकता। जैसे – ग्रहों को उनकी कक्षा में घुमाने के लिए यदि किन्हीं आत्माओं का विश्वास किया जाय तो इस तर्कवाक्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

वैज्ञानिक प्राक्कल्पना में निम्न विशेषताएँ होती है–

1. वैज्ञानिक प्राक्कल्पना निश्चित और परीक्षा योग्य होती है।
2. प्राक्कल्पना मनुष्य की बुद्धि आधारित ज्ञान से संगत होती है।
3. प्राक्कल्पना का प्राकृतिक नियमों से विरोध नहीं होता है।
4. प्राक्कल्पना तथ्यों को और अधिक स्पष्ट करती है। तथ्यों के सम्बन्ध में घटना क्यों हुई इसे समझाने का प्रयास करती है।
5. प्राक्कल्पना आत्म विरोधी नहीं होती उसमें प्रासंगिकता का समावेश होता है तथा अप्रासांगिक तथ्य छोड़ दिये जाते है।
6. प्राक्कल्पना के समर्थन में अनुभवाधारित प्रमाण देने का प्रयास किया जाता है।
7. प्राक्कल्पना प्रस्तावित व संभाव्य होती है उसे और अधिक साक्ष्यों व प्रमाणों की आवश्यकता रहती है।
8. प्राक्कल्पना (Hypothesis) प्रामाणिक सिद्ध होने पर वाद (Theory) का स्थान ले लेती है। और जब वाद (Theory) के आधार पर तथ्यों की संतोषजन व्याख्या एवं उनके विषय में सटीक भविष्यवाणी की जा सकती है तो वह नियम (Law) बन जाता है।

8.2.1 प्राक्कल्पना के प्रकार (Types of Hypothesis)

वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के मुख्यतः 3 भेद किये जाते है–

(1) नियमविषयक प्राक्कल्पना (hypothesis concerning law)

इस प्राक्कल्पना में घटना या नियम की कार्यप्रणाली ज्ञात नहीं होती है। इसमें घटना के कर्ता तथा परिस्थिति का ज्ञान तो होता है। जैसे न्यूटन ने पेड़ से सेब को नीचे गिरता देखा तो उसे कार्यप्रणाली का ज्ञान नहीं था इसे जानने के लिए उसने पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की पूर्वकल्पना की।

(2) कर्त्ता विषयक प्राक्कल्पना (hypothesis concenrning agent)

प्राक्कल्पना का वह प्रकार जिसमें नियम या कार्यप्रणाली तो ज्ञात होती है पर कर्त्ता ज्ञात नहीं होता इसलिए इस प्राक्कल्पना में घटना की व्याख्या के लिए कर्त्ता की कल्पना की जाती है और अनुसंधान किया जाता है। जैसे – चोरी की घटना होने पर चोरी करने के ढंग व परिस्थति विन्यास ज्ञात होते है तो इनके आधार पर किसके द्वारा चोरी की जा सकती है?इस आधार पर पुलिस संदिग्ध व्यक्तियों को पकड़ती है।

(3) संस्थितिविषय संस्थितिविषयक प्राक्कल्पना (hypotesis concerning colection)

प्राक्कल्पना का वह प्रकार जिसमें केवल कारण और उसका नियम ज्ञात होता है पर यह ज्ञात नहीं होता कि परिस्थितियों का कौन सा समुच्चय था जिसमें घटना हुई इसलिए उसकी कल्पना की जाती है। जैसे अभी चेन्नई जैसे महानगर में बाढ़ की असामान्य घटना घटने के कारण में प्राकृतिक आपदा के साथ मनुष्य के द्वारा प्रकृति के प्रति छेड़छाड़ को घटना का जिम्मेदार माना गया।

प्राक्कल्पना के उपरोक्त तीनों प्रकार सदैव एक दूसरे से अलग–अलग नहीं पाये जाते। यदि दो कारणों जैसे कर्त्ता व परिस्थिति विन्यास पता हो तो तीसरे के विषय में प्राक्कल्पना बनाई जा सकती है और यदि कोई एक पता हो तो अन्य दो के सम्बन्ध में प्राक्कल्पना बनाई जा सकती है।

8.2.2 वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की उपयोगिता

वैज्ञानिक प्राक्कल्पना का आगमन के क्षेत्र में अत्यधिक महत्व है। आगमन में हम सामान्य सिद्धान्तों

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

की खोज करते हैं। सीधे सामान्य सिद्धान्तों को जानना या कारण–कार्य नियम बताना सम्भव नहीं है इसलिए इसकी ओर बढ़ने के लिए पूर्वकल्पना करनी पड़ती है। प्रकृति में अनेक तथ्य होते है निरीक्षण योग्य तथ्य छांटने के लिए और प्रयोग व प्रेक्षण की दिशा में आगे बढ़ने के लिए पूर्वकल्पना जरूरी होती है। वैज्ञानिक खोजो के इतिहास में जितने भी बड़े कदम उठाये गए है वे प्राक्कल्पना के आधार पर संभव हुए है। प्राक्कल्पना आगमन अथवा वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रथम सोपान होती है जो अनुसंधान की दिशा तय करती है। प्राक्कल्पना के आधार पर हम अपने ज्ञान को एक श्रृंखला में बांधते है। अप्रासंगिक तथ्यों से प्रासंगिक तथ्यों को छांटकर अलग कर लिया जाता है। यदि एक प्राक्कल्पना असफल सिद्ध होती है तो वह भी ज्ञान में कुछ निश्चित तथ्यों को जोड़ती है जो दूसरी दिशा में प्रयास में सहायता करते हैं। प्राक्कल्पना को विज्ञान में पथ–प्रदर्शक माना गया है।

8.03 वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं का मूल्यांकन

किसी तथ्य की व्याख्या के लिए एक से अधिक प्राक्कल्पनाएँ हो सकती हैं। जैसे कोई व्यक्ति यदि ज्यादा मेल जोल नहीं रखता तो उसके सम्बन्ध में दो कल्पनाएँ की जा सकती हैं कि या तो वह शर्मिला है अथवा उसे संदिग्ध भी माना जा सकता है कि वह अपनी पहचान छिपाने के लिए अन्य लोगों से नहीं मिलता है। इस प्रकार विज्ञान में वस्तु के गरम होने के सम्बन्ध में उषिक सिद्धान्त (caloric theory) और गति सिद्धान्त (kinetic theory) अलग–अलग प्रस्तुत की जाती है। उषिक सिद्धान्त के अनुसार ताप एक अदृश्य भारहीन द्रव है जिसे कैलरिक कहा जाता है और गतिक सिद्धान्त के अनुसार ताप उन कणों की अनियमित गतियों से रचित है जिनसे पदार्थ बनता है। दोनों ही व्याख्याओं को स्वीकारा जा सकता है परन्तु सत्य सिर्फ एक ही हो सकता है। कौनसी प्राक्कल्पना अच्छी है कौनसी खराब है इस सम्बन्ध में कोई निश्चित रचना विधि नहीं है। यह यन्त्रवत क्रिया नहीं है यह व्यक्ति की कल्पना व सामार्थ्य का विषय है परन्तु प्राक्कल्पनाओं का निश्चित आधार होता है वे मनमर्जी की मानसिक उडान नहीं है। कुछ ऐसे नियम है जिनके अनुरूप प्राक्कल्पनाओं को होना चाहिए। प्राक्कल्पनाओं के मूल्यांकन के निम्न पांच मापदण्ड है–

(1) प्रासंगिकत्व
(2) परीक्ष्यत्व
(3) पूर्व प्रतिष्ठापित प्राक्कल्पनाओं के साथ संगति
(4) भविष्यवक्तृता या व्याख्यात्मक शक्ति
(5) सरलता

(1) प्रासंगिकता (Relevance)

कोई भी व्याख्या अपने लिये प्रस्तावित नहीं होती, उसका उद्देश्य सदैव किसी तथ्य की व्याख्या करना होता है अतः उसे तथ्य के अनुरूप होना चाहिए। प्रासंगिकता के मापदण्ड के अनुरूप होने पर ही उस तथ्य से कुछ निगमित किया जा सकेगा। जैसे किसी से दफ्तर देर से आने का कारण पूछा जाय और वह कहे कि आजकल सब्जियाँ खाने में स्वाद नहीं है तो यह अप्रासंगिक स्पष्टीकरण होगा। हम जिस तथ्य के विषय में जानना चाह रहे हैं अप्रासंगिक कहानी उसमें कोई सहायता नहीं कर सकती। अतः प्राक्कल्पना में वही व्याख्या स्वीकार्यहै तो उस तथ्य की परिस्थिति के अनुरूप हो।

(2) परीक्ष्यत्व (Verifiable)

वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाएँ परीक्षण योग्य होती हैं, यह उनका अवैज्ञानिक व्याख्याओं से भेद होता है। परीक्ष्यत्व से तात्पर्य है कि उनमें प्रेक्षण करने की सम्भावना होती है। जैसे वैज्ञानिक विकिरण को, सूक्ष्म अणुओं को नहीं छू सकते परन्तु ऐसे अप्रेक्षणीय तथ्यों से ऐसे कथन प्राप्त करने के उपाय अवश्य होते है जो मेज, कुर्सी, फोटोग्राफ, एक्सरे इत्यादि प्रेक्षणीय पदार्थो के बारे में हो। इस प्रकार वैज्ञानिक प्राक्कल्पना और अनुभावित सामग्री या अनुभव के बीच कुछ सम्बन्ध अवश्य होता है।

(3) पूर्व प्रतिष्ठापित प्राक्कल्पनाओं के साथ संगति
(compatibility with previously well - established hypothesis)

वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं के सम्बन्ध में परिवर्तन स्वीकारे जाते है। नयी प्राक्कल्पनाएँ स्वीकारी

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

जाती है परन्तु उनका उद्देश्य और अधिक संगत स्पष्टीकरण होता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान में हम कम सामान्य से अधिक सामान्य की ओर बढ़ते हैं इसलिए नवीन सिद्धान्त प्राचीन सिद्धान्तों से मेल खाने वाले होते है। जैसे – पदार्थ की सबसे छोटी अविभाज्य इकाई के रूप में डॉल्टन के परमाणु सिद्धान्त दिया। बाद में परमाणु से भी छोटे कणों (प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन) के सिद्धान्त आये। नयी प्राक्कल्पना स्वीकार हुई, नया सिद्धान्त आया, परन्तु यह पहले वाले का सुधार था उससे असंगत नहीं था।

(4) भविष्यवक्तृता या व्याख्यात्मक शक्ति (Predictive or Explanatory Power)

किसी भी प्राक्कल्पना की व्याख्यात्मक शक्ति उन प्रेक्षणीय तथ्यों का क्षेत्र होता है जो उससे निगमित हो सकती है। जिस प्राक्कल्पनाओं में प्रेक्षणीय तथ्यों का क्षेत्र अधिक होता है उसकी भविष्यवक्तृता अधिक मानी जाती है जैसे गैलीलियों की प्राक्कल्पना से न्यूटन की प्राक्कल्पना का क्षेत्र अधिक व्यापक है तो उसे उपयुक्त कहा जायेगा।

(5) सरलता (Simplicity)

दो प्रतिद्वन्दी प्राक्कल्पनाओं के सम्बन्ध में संभव है उपर्युक्त सभी शर्तो की पूर्ति होती हो अर्थात् समान रूप से प्रांसगिक हो, परीक्षयत्व हो पूर्व प्राक्कल्पनाओं से संगत हो व्याख्यात्मक शक्ति हो तब उसे स्वीकारा जाता है जो अधिक सरल व स्वाभाविक लगती हो। जैसे टॉलमी व कापरनिकस के सिद्धान्त में पहले चार मापदण्ड समान थे परन्तु कॉपरनिकस के सिद्धान्तको अधिक सरल व स्वाभाविक मानते हुए स्वीकारा गया। सरलता के मापदण्ड के सम्बन्ध में चिन्तकों का कहना है कि यह कुछ संदिग्ध है तथा इसका प्रयोग सदैव सरल नहीं है।

बहुविकल्पात्मक प्रश्न

(1) विज्ञान मे तथ्यों का अध्ययन किया जाता है–
(अ) क्रमबद्ध व व्यवस्थित ढंग से (ब) निष्पक्ष ढंग से
(स) निरीक्षण और प्रयोग की सहायता से (द) उपर्युक्त सभी प्रकार से

(2) विज्ञान में स्थापित किये गये हैं–
(अ) सामान्य नियम (ब) निष्कर्ष (स) प्राक्कल्पना (द) प्रयोग

(3) प्राक्कल्पना होती है–
(अ) पूर्ण सिद्ध
(ब) पूर्ण असद्धि
(स) प्रस्तावित तर्कसंगत व प्रासंगिक व्याख्या (द) पसन्द की कल्पना

(4) वैज्ञानिक कल्पना नहीं होती–
(अ) बौद्धिक (ब) प्रासंगिक (स) निराधार व बेतुकी(द) परीक्षण योग्य

(5) वैज्ञानिक का मनोभाव होता है–
(अ) जिद्दी (ब) रूढ़िवादी
(स) नीरस (द) निष्पक्ष परीक्षण करने वाला

(6) प्राक्कल्पना प्रामाणिक सिद्ध होने पर स्थान लेती है–
(अ) वाद का (ब) नियम का
(स) दूसरी प्राक्कल्पना का (द) प्रयोग का

(7) नियम विषयक प्राक्कल्पना मे अज्ञात होता है–
(अ) कर्त्ता (ब) परिस्थिति विन्यास
(स) कार्यप्रणाली (द) कर्त्ता व कार्यप्रणाली

(8) प्राक्कल्पना वैज्ञानिक अनुसंधान का होती है–
(अ) प्रथम सोपान (ब) अन्तिम सोपान (स) मध्यावस्था (द) उदाहरण

(9) एक प्राक्कल्पना असिद्ध होने पर उसे–
(अ) बकवास माना जाता है (ब) त्याग कर दूसरी प्राक्कल्पना स्वीकारी जाती है
(स) प्राक्कल्पनाएँ बनानी छोड दी जाती है (द) निरूपयोगी माना जाता है

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(10) वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं में पूर्व प्राक्कल्पनाओं से–
(अ) विरोध होता है (ब) असंगतता नहीं होती है
(स) संगतता नहीं होती (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) विज्ञान किस प्रकार का अध्ययन है?
(2) अनुभवाश्रित क्या होता है?
(3) प्रांसगिकता क्या है?
(4) वैज्ञानिक अनुसंधान क्या है?
(5) प्राक्कल्पना क्या है?
(6) अन्धविश्वास क्या है?
(7) प्राकृतिक नियम क्या है?
(8) वैज्ञानिक नियम क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) विज्ञान की परिभाषा दीजिये।
(2) प्राक्कल्पना की परिभाषा दीजिये।
(3) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के प्रकार बताइये।
(4) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की उपयोगिता बताइये।
(5) मिल के अनुसार वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की परिभाषा दीजिये।
(6) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना का अवैज्ञानिक प्राक्कल्पना से भेद समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के स्वरूप, प्रकार व उपयोगिता को समझाइये।
(2) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के मूल्यांकन के मापदण्ड समझाइये।
(3) विज्ञान में प्राक्कल्पना का महत्व समझाइये।
(4) वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के स्वरूप का वर्णन करते हुए करते हुए उसकी विशेषताएँ बताइये।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

9

मिल की विधियाँ

"कार्य कारण नियम और प्रकृति की एकरूपता के नियम में विश्वास करके तथा एक घटना के कु विशेष दृष्टान्तों के बारे मे प्रेक्षण तथा प्रयोग द्वारा कार्य–कारण सम्बन्ध निश्चित करके वास्तविक सामान्य–प्रतिज्ञप्ति स्थापित करना वैज्ञानिक आगमन है।"

मिल के अनुसार – यदि हम घटना के कुछ दृष्टान्तों का अध्ययन करके उसके कारण का निश्चय कर लेते है, तो उस पर आधारित हमारा सामान्यीकरण पूर्णतः निश्चित और वैज्ञानिक होगा, उसमें शंका की कोई संभावना नहीं रहेगी।

मिल ने ऐसी पाँच प्रणालियाँ निश्चित की हैं जिनके द्वारा, घटनाओं के कारण – कार्य सम्बन्ध निश्चित होते है और हो सकते है।

ये पाँच आगमनात्मक प्रणालियाँ है–

1. अन्वय प्रणाली
2. व्यतिरेक प्रणाली
3 अन्वय व्यतिरेक प्रणाली
4. सह परिवर्तन प्रणाली
5. अवशेष प्रणाली

(I) इन पाँचों को मिल ने आगमनात्मक प्रणालियाँ कहा है। अर्थात् इनमें कुछ दृष्टान्तों का प्रेक्षण करके और उनके बारे मे कारण कार्य सम्बन्ध निश्चय करके सामान्यीकरण किया जाता है।

(II) मिल ने इन्हे प्रयोगात्मक–प्रणालियाँ भी कहा है। यद्यपि इनमें से कुछ प्रणालियाँ प्रेक्षण पर आधारित है। प्रयोग का मुख्य उद्देश्य एक घटना की प्रासंगिक परिस्थितियों को अप्रसांगिक परिस्थितियों से पृथक करना है।

(III) मिल के अनुसार ये प्रणालियाँ कार्य कारण सम्बन्ध की खोज करने की तथा कार्य – कारण सम्बन्ध का पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करने की प्रणालियाँ हैं।

यद्यपि बहुत से तर्कशास्त्री इन प्रणालियों के महत्व को पूर्णतया तो नहीं स्वीकारते तथापि इनके महत्व को नकारा भी नहीं जा सकता।

9.1 अन्वय एवं व्यतिरेक विधि

9.1.1 अन्वय की विधि–

मिल का कहना है कि यदि अनुसंधान विषयक घटना के दो या अधिक उदाहरणों में केवल एक परिस्थिति सर्वनिष्ठ है केवल वह परिस्थिति जो सभी उदाहरणों में सर्वनिष्ठ है, दी हुई घटना का कारण (या कार्य) है।

अन्वय विधि को सर्वोत्तम ढग से एक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है–

माना कि एक टिफिन सेन्टर से विभिन्न –व्यक्तियों को जो टिफिन भेजे जाते है उनमे से कुछ व्यक्तियों को असह्य उदरपीड़ा को झेलना पड़ा और इसके कारण की अब तलाश करनी है। बीमार व्यक्तियों में से पाँच व्यक्तियों का साक्षात्कार यह जानने के लिए लिया जाता है ताकि यह पता लग सके कि बीमार होने के दिन उन लोगों ने क्या खाना खाया था। पहले व्यक्ति ने दाल, रोटी, चावल, सब्जी,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सलाद और रसगुल्ला खाया था, तीसरे व्यक्ति ने चावल, दाल और रसगुल्ला खाया था। चौथे व्यक्ति ने रोटी, दाल, सलाद और रसगुल्ला खाया था। और पाँचवें व्यक्ति ने दाल और रसगुल्ला खाया था। इस सूचना को सारिणी के रूप में प्रकट करने के लिए अ ब स द य र को क्रमशः दाल, रोटी, चावल, सब्जी, सलाद, रसगुल्ले के संकेत के रूप में प्रकट कर सकते है।

उदाहरण	पूर्ववर्ती परिस्थितियाँ	घटना
1	अ ब स द य र	ल
2	– ब – द य र	ल
3	अ – स – – र	ल
4	अ ब – – य र	ल
5	अ – – – – र	ल

उक्त सारिणी से स्पष्ट हम यह अनुमान कर सकते है कि परिस्थिति 'र' घटना 'ल' का कारण हो सकती है। अर्थात् बीमारी रसगुल्ला खाने के कारण संभवतया हुई।

किसी आगमनात्मक युक्ति में आधार वाक्य निष्कर्ष को प्रमाणित न करके केवल उसकी संभावना बताते है। अन्वय विधि की कमी यह है कि यदि उदर पीड़ा से पीड़ित सभी व्यक्ति रसगुल्ला और दाल दोनों खाते तो प्रश्न बना ही रहता कि केवल रसगुल्ला या केवल दाल या रसगुल्ला और दाल दोनों का बीमारी का कारण है?

महत्व – इस प्रणाली का महत्व निषेधात्मक है। यदि एक परिस्थिति प्रेक्षित दृष्टान्तों में से एक दृष्टान्त में दिखाई देती है और अन्य में नहीं दिखती तो यह सिद्ध होता है कि वह उस घटना का कारण नहीं है। परन्तु जो परिस्थिति सब दृष्टान्तों में दिखायी देती है वह उस घटना का कारण है तो इस प्रणाली से यह स्थापित नहीं होता।

विशेषतायें –

(1) इन प्रणाली में प्रेक्षण द्वारा अधिकाधिक ऐसे दृष्टान्त इकट्ठे किये जाते हैं, जिनकी परिस्थितियों में अधिकाधिक भिन्नता हो।

(2) प्रेक्षित दृष्टांतो में केवल एक परिस्थिति ही समान होनी चाहिए, एक से अधिक समान परिस्थिति होने पर अनुमान (अन्वय प्रणाली से) अवैध होगा। यहाँ कम से कम दो प्रेक्षित दृष्टान्तों की आवश्यकता होती है।

मान्यतायें –

(1) जिसके अभाव में अमुक घटना घटती है वह उस घटना का कारण नहीं हो सकता।

(2) प्रत्येक घटना (कार्य) का कारण होता है।

आलोचना (सीमाएँ)–

(1) सम्यवतया प्रेक्षित दृष्टान्तों की कोई परिस्थिति हो, जिसकी तरफ हमने ध्यान नहीं दिया हो और वही वास्तव में घटना का कारण है।

(2) एक घटना ही पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती परिस्थितियाँ जटिल हों है जिनमें से घ्झटना के कारण को अन्वय प्रणाली द्वारा निकाल पाना संभव नहीं हो पाता ओर बिलकुल अप्रांसगिक बात को भी कारण समझा जा सकता है।

(3) कार्य कारण सम्बन्ध और सह अस्तित्व में अन्तर करने में यह प्रणाली असफल रहती है।

(4) एक कारण का परिणाम जटिल होता है अर्थात् उस कारण से जो कार्य पैदा होता है उसके अनेक तत्व होते है, इनमें कार्य कारण सम्बन्ध मानने की भूल हो सकती है।

9.1.2 व्यतिरेक विधि –

व्यतिरेक विधि का प्रयोग कई बार अन्वय विधि जैसे उदाहरणों में होता है तो कई बार इसका उपयोग वहां भी होता है जहाँ अन्वय विधि के प्रयोग के लिए आवश्यक सामग्री नहीं मिलती है। उदाहरण के लिए : यदि हमें टिफिन सेन्टर से भेजे गये टिफिन का उपयोग करने वाले व्यक्तियों में एक व्यक्ति ऐसा

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

मिलता है जिसने दाल, रोटी, चावल, सब्जी, सलाद खाया और बीमार नहीं पड़ा इस व्यक्ति को हम 'व' संकेत से निर्देशित करते हुए प्रथम व्यक्ति से यदि इसकी तुलना करें तो एक नयी सारणी में इसे इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते है–

उदाहरण	पूर्ववर्ती परिस्थितियाँ	घटना
1.	अ ब स द य र	ल
'व'	अ ब स द य –	–

निष्कर्षतः – परिस्थिति 'र' घटना 'ल' का कारण हो सकती है। अर्थात् उदरपीड़ा रसगुल्ला खाने से ही संभवतया हुई है। किसी आगमनात्मक युक्ति में आधार वाक्य निष्कर्ष को प्रमाणित न करके केवल उसकी संभावना बताते हैं।

* क्योंकि 'र' परिस्थिति न होने पर घटना 'ल' भी घटित नहीं हुई।

इस विधि की संरचना मिल ने निम्नलिखित शब्दों में की है–

यदि कोई उदाहरण जिसमें अनुसंधान – विषयक घटना घटती है और एक दूसरा उदाहरण जिसमें वही नहीं घटती, एक परिस्थिति को छोड़, अन्य सभी परिस्थितियों में समान है और वह एक परिस्थिति केवल पहले उदाहरण में आती हो तो वह परिस्थिति ही जिसमें दोनों भिन्न हैं, दी हुई घटना का कार्य या कारण है या उसके कारण का एक अनिवार्य अंश है।

सारणि के रूप में व्यतिरेक विधि को इस प्रकार दर्शा सकते है–

य र ल व के साथ क ख ग घ घटित होते है।

र ल व के साथ ख ग घ घटित होते है।

अतः य क का कार्य, कारण या क के कारण का अनिवार्य अंश है।

जहाँ य र ल व परिस्थितियाँ और क ख ग घ घटनाओं को सूचित करते है।

विशेषताएँ –

(1) व्यतिरेक प्रणाली में दो दृष्टान्तों की आवश्यकता होती है। एक अन्वय दृष्टान्त और दूसरा व्यतिरेक दृष्टांत।

(2) अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्तों में केवल एक बात का अन्तर हो।

(3) वे सब बातें जो घटना के लिए प्रांसगिक है, जिनका घटना पर प्रभाव सम्भव हो सकता है, वे स्पष्टतः ध्यान में होनी चाहिए।

सीमाएँ –

(1) व्यतिरेक प्रणाली के अनुसार प्रांसगिक बातों का निश्चय करने के लिए पूर्वज्ञान और अनुभव होना चाहिए। इसके अभाव में संभवतया अप्रसांगिक बात को भी कारण समझा जा सकता है।

(2) इस प्रणाली में अन्वय और व्यतिरेक में केवल एक बात का अन्तर होना चाहिए। प्रेक्षण के आधार पर ऐसे दो दृष्टांतो का मिलना लगभग असम्भव है और प्रयोग के द्वारा केवल एक बात में अन्तर पैदा करना (अन्य परिस्थितियों को नियन्त्रित करके) अत्यन्त कठिन है।

(3) इस प्रणाली में यद्यपि घटना के लिए अनिवार्य परिस्थिति को तो निश्चित किया जा सकता है तथापि पर्याप्त परिस्थिति को निश्चित करना संभव नहीं है।

महत्व –

(1) यद्यपि इन प्रणाली से निश्चित रूप से कार्य कारण सम्बन्ध की खोज नहीं की जा सकती तथापि दैनिक जीवन और वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में इसका महत्व है।

(2) कार्य कारण सम्बन्ध के बारे में बनायी गयी प्राक्कल्पनाओं की जाँच करने में यह प्रणाली सहायक है।

(3) अप्रासंगिक बातों का निरास करने में इस प्रणाली का सर्वाधिक महत्व है।

अन्वय और व्यतिरेक – प्रणाली का अन्तर

अन्वय	व्यतिरेक
(1) प्रेक्षित दृष्टान्त अन्वय दृष्टान्त	(1) प्रेक्षित दृष्टान्त अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(2)	कम से कम दो दृष्टान्त आवश्यक, परन्तु जितने अधिक दृष्टांत हो उतना अच्छा है।	(2)	केवल दो दृष्टांतो की आवश्यकता होती है।
(3)	सब प्रेक्षित दृष्टांतों में केवल एक परिस्थिति का अन्वय होना आवश्यक।	(3)	अन्वय ओर व्यतिरेक दृष्टांतों में केवल एक परिस्थिति का व्यतिरेक (अन्तर) होना आवश्यक।
(4)	मुख्यतः प्रेक्षण की प्रणाली है	(4)	मुख्यतः प्रयोग की प्रणाली है।
(5)	जिसके अभाव में एक घटना है, वह घटना का कारण या कारण का अंश नहीं है।	(5)	जिसके होने पर एक घटना नहीं घटती वह घटना का कारण अर्थात् पर्याप्त हेतु नहीं है।

ये दोनों प्रणालियाँ घटना का कारण क्या नहीं है?इसकी स्थापना तो करती है परन्तु यह स्थापित नहीं करती (निश्चित रूपेण) कि घटना का कारण क्या है?

9.2 अन्वय – व्यतिरेक संयुक्त

मिल के अनुसार अन्वय व्यतिरेक प्रणाली को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है–

"यदि दो या अधिक दृष्टान्तों में जिनमें एक घटना घटती है, केवल एक परिस्थिति समान हो, और ऐसे दो या अधिक दृष्टांतों में जिनमें वह घटना नहीं घटती केवल इस एक परिस्थिति के अभाव को छोड़कर अन्य और कोई परिस्थिति समान न हो, तो वह एक परिस्थिति जिसके सम्बन्ध में दृष्टांतो के दोनों समुच्चय एक दूसरे से भिन्न है प्रस्तुत घटना का कार्य है, कारण है अथवा कारण का अंश है।"

विशेषताऐं –

(1) इस प्रणाली में एक अन्वय दृष्टांतो का समुच्चय होता है और दूसरा व्यतिरेक दृष्टान्तों का।

(2) अन्वय दृष्टांतों में घटना और उसकी एक परिस्थिति का अन्वय (साथ साथ होना) होता है। व्यतिरेक दृष्टांतो में उसी परिस्थति के अभाव और उसी घटना के अभाव का अन्वय होता है।

(3) यह प्रेक्षण की प्रणाली है, यह प्रयोग द्वारा भी लागू हो सकती है।

(4) अन्वय दृष्टांत और व्यतिरेक दृष्टांतों का एक ही क्षेत्र से होना प्रणाली का सफलता के लिए आवश्यक है।

प्रतीकात्मक आकार –

अन्वय दृष्टांतों का समुच्चय I
{ अ आ इ इ→ क ख ग घ
च आ छ ज→ त ख थ द
च र आ ल→ प फ ख ब }

व्यतिरेक दृष्टांतों का समुच्चय II
{ अ इ ई→ क ग घ
च छ ज→ त थ द
थ र ल→ प फ ब }

यहां समुच्चय I में आ और ख का अन्वय है और समुच्चय II में आ के अभाव और ख के अभाव का अन्वय है यहाँ व्यतिरेक प्रणाली का प्रकार भी बनता है क्योंकि समुच्चय I और II के दृष्टांतों की तुलना करने पर पता चलता है कि शेष परिस्थितियों के समान होने पर आ के नहीं होने पर ख भी नहीं होता। उदाहरण के लिए – जहाँ – जहाँ धुआँ होता है, वहाँ – वहाँ आग भी होती है। जहाँ आग नहीं होती, वहाँ धुँआ भी नहीं होता। इसलिए आग धुँए का कारण या कारण का अंश है।

महत्व –

(1) अन्वय प्रणाली की गलतियों (आकस्मिक परिस्थिति को अनिवार्य समझ लेना) को अन्वय व्यतिरेक प्रणाली द्वारा तुलनात्मक अध्ययन से दूर किया जा सकता है।

(2) व्यतिरेक प्रणाली में एक अन्वय और एक व्यतिरेक उदाहरण लेते हैं इसलिए त्रुटि होने की संभावना अधिक रहती है। अन्वय व्यतिरेक प्रणाली में कई अन्वय और कई – व्यतिरेक दृष्टांत लेते है जिससे त्रुटियों की संभावना को कम किया जा सकता है।

(3) जहाँ वर्ग अधिक हो व्यक्तियों की संख्या अधिक हो तो यह विधि अधिक उपयोगी होती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सीमाएँ – अन्वय और व्यतिरेक की त्रुटियाँ अन्वय व्यतिरेक प्रणाली में भी रहती है यद्यपि अधिकाधिक तुलनात्मक अध्ययन से त्रुटियों की कम किया जा सकता है।

चूंकि अलग से प्रयुक्त होने पर प्रत्येक विधि निष्कर्ष को कुछ संभाव्यता प्रदान करती है उनका संयुक्त प्रयोग निष्कर्ष को अपेक्षाकृत अधिक संभावना देता है।

9.3 सह परिवर्तन या सहचार विधि

''यदि एक घटना किसी अन्य घटना के साथ – साथ किसी विशिष्ट प्रकार से परिवर्तित होती है तो वह दूसरी घटना का या तो कारण है या कार्य है या किसी अन्य प्रकार से उससे कारण सम्बन्ध में सम्बन्धित होती है।''

जिन दो घटनाओं में किसी प्रकार का परिवर्तन साथ – साथ होता हो तो उनमें कारण सम्बन्ध होता है। जहाँ घटनाएँ एक – दूसरे के साथ बदलती है तो उसे सहचारी परिवर्तन कहते है अर्थात् जब एक में वृद्धि होती है तो दूसरे में भी वृद्धि हो जाती है। इसे अनुलोम सहपरिवर्तन कहते है। कभी – कभी उन घटनाओं के बीच भी कारण सम्बन्ध का अनुमान करते है जो विपरीत दिशा में परिवर्तित होती है अर्थात् जब एक घटना बढ़ती है और दूसरी घटती है तो उनमें भी कारणता सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। सह सहपरिवर्तन विलोम सहपरिवर्तन कहलाता है।

सह परिवर्तन प्रणाली को प्रतीकात्मक रूप से ऐसे प्रकट कर सकते है– (अनुलोम सहपरिवर्तन)

अ ब स   य र ल
अ ब स   य र ल^{1}
अ ब स^{2} य र ल^{2}
अ ब स^{3} य र ल^{3}

अतः स और ल में कारणात्मक सम्बन्ध है।

उदाहरण के लिए – एक व्यापारी अपने माल का विज्ञापन जितना अधिक करिता है उसके माल की बिक्री उतनी ही अधिक होती है इस प्रकार विज्ञापन और बिक्री में कारणात्मक सम्बन्ध है।

प्रतिलोम (विलोम) सहपरिवर्तन को प्रतीकात्मक रूप से इस प्रकार प्रकट कर सकते है–

अ ब स 1   य र ल
अ ब स 2   य र ल $\frac{1}{2}$
अ ब स 3   य र ल $\frac{1}{3}$
अ ब स 4   य र ल $\frac{1}{4}$

अतः स और ल मे कारणात्मक सम्बन्ध है।

उदाहरण के लिए –

यदि एक माल की माँग स्थिर रहती है तो उसकी आपूर्ति में वृद्धि के साथ उसकी कीमत कम होती जाती है। अतः माल की आपूर्ति और कीमत में कारणात्मक सम्बन्ध है।

महत्व –

(1) जहाँ अन्वय और व्यतिरेक विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता, वहाँ सहचार विधि उपयोगी होती है।

(2) जहाँ अन्वय विधि और व्यतिरेक विधि लागू हो सकती है वहाँ कार्य–कारण सम्बन्ध स्थापित करने हेतु सह–परिवर्तन प्रणाली से साक्ष्य में वृद्धि होती है।

(3) जहाँ कारण और कार्य के परिवर्तन की मात्रा को ठीक–ठीक मापा जा सकता है, वहाँ इस प्रणाली का विशेष महत्व होता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सीमाएँ –

(1) यह प्रणाली साधारण सूझ–बूझ और अनुभव की अपेक्षा रखती है।

(2) सह परिवर्तन की प्रणाली एक विशेष – सीमा के बाहर लागू नहीं होती।

(3) यह प्रणाली गुणात्मक – परिवर्तनों के सम्बन्ध में लागू नहीं होती, केवल परिमाणात्मक सह परिवर्तनों के सम्बन्ध में ही लागू होती है।

9.4 अवशेष प्रणाली

"वह भी घटना से उस भाग को निकाल दीजिये जो पूर्व सामान्यानुमानों से किसी पूर्ववर्ती परिस्थितियों के कार्य रूप में ज्ञात है, और घटना का अवशेष भाग अवशिष्ट पूर्ववर्ती परिस्थितियों का कार्य है।"

9.4.1 इस प्रणाली में दो प्रक्रियाएं शामिल हैं–

(1) विश्लेषण – इस प्रणाली में घटना के विभिन्न भागों और परिस्थति के विभिन्न तत्वों का विश्लेषण किया जाता है।

(2) निरास – जो एक घटना का कारण है, वह दूसरी घटना का कारण नहीं हो सकता।

प्रतीकात्मक उदाहरण –

अ आ इ	–	क ख ग
आ	–	ख का ज्ञात कारण है
इ	–	ग का ज्ञात कारण है।

अतः अ क का कारण है।

स्पष्टतः हमें पहले से मालूम है कि ख, अ का कार्य है और ग, इ का कार्य है अतः आ और इ क के कारण नहीं हो सकते लेकिन क का कारण तो अवश्य होना चाहिए। 'अ' ही अवशेष है इसलिए अवशेष प्रणाली की दो अवस्थाएँ –

(I) घटना और अवशिष्ट – परिस्थिति दोनों ज्ञात होती है परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि परिस्थिति घटना के किस भाग का कारण है, तब "अवशिष्ट परिस्थिति" और घटना के "अवशिष्ट भाग" में कारण सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

उदाहरण – मिठाई के खाली डिब्बे और मिठाई से उसे भरकर उसका वजन दोनों ज्ञात है। भरे हुए डिब्बे में से खाली डिब्बे का वजन घटाने पर जो वजन शेष रहता है, वह मिठाई का वजन होगा।

(II) इसमें घटना पर प्रभाव डालने वाली अवशिष्ट परिस्थिति ज्ञात नहीं है। यह प्रणाली उस कारण की खोजने की ओर केवल संकेत करती है, सहायक होती है।

उदाहरण – वातावरण में से ऑक्सीजन, नमी आदि को अलग करके जो नाइट्रोजन गैस प्राप्त की वह रासायनिक प्रक्रिया से तैयार नाइट्रोजन से भारी पायी गयी। यह संकेतित करता है कि वातावरण से प्राप्त नाइट्रोजन में कोई गैस मिली हुई है, अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि वह "कोई और गैस" आर्गन है।

महत्व –

(1) अवशेष प्रणाली द्वारा कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित करना, निगमनात्मक है न कि आगमनात्मक। (परन्तु वास्तव में ऐसा सतही रूप में ही कहा जा सकता है)

(2) खोज की प्रणाली के रूप में अवशेष प्रणाली का महत्व अप्रासंगिक तत्वों का निरास करने में है।

* (क्यूंकि अवशेष विधि द्वारा निगमित निष्कर्ष केवल सामान्य होता है और वैद्य रूप से आधार वाक्यों से निगमित नहीं हो सकता)

9.5 मिल की प्रणालियों की सीमाऐं और महत्व –

सीमाएँ –

(1) प्रत्येक वैज्ञानिक खोज कार्य – कारण सम्बन्ध के रूप में ही प्रकट नहीं कर सकते, कुछ खोजें सांख्यिकीय नियमों के रूप में भी प्रस्तुत की जाती है।

(2) इर्विंग कोपी के अनुसार "मिल की प्रणालियाँ अन्वेषण के लिए पर्याप्त उपकरण नहीं है, क्योंकि इनके सफल प्रयोग के लिए पूर्ववर्ती परिस्थितियों के घटकों का समुचित विश्लेषण आवश्यक है

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

और ये प्रणालियाँ स्वयं यह नहीं बताती कि समुचित और अनुचित विश्लेषण में भेद कैसे किया जाए।''

(3) इन प्रणालियों के द्वारा अधिकाधिक प्रेक्षित दृष्टान्तों में कारणात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। अप्रेक्षित दृष्टान्तों में भी यही सम्बन्ध लागू होगा, यह इन प्रणालियों से सिद्ध नहीं हो सकता और यह किसी भी आनुभविक प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता।

महत्व –

(1) एक घटना का कारण क्या है?यद्यपि इन प्रणालियों से यह तो स्थापित नहीं होता तथापि एक घटना की कौनसी पूर्ववर्ती परिस्थितियाँ कारण नहीं है। यह स्थापित हो जाता है।

(2) एक घटना के कारण के संबंध में जो प्राक्कल्पनाएँ संभावित है, उनका परीक्षण इन प्रणालियों द्वारा संभव है। इस प्रकार कारणात्मक संबंध खोजने और वैज्ञानिक अनुसन्धान को आगे बढ़ाने में सहायक है। इरविंग कोपी के शब्दो में – ''कारणात्मक नियमों या सामान्य प्रतिज्ञप्तियों का अन्वेषण कभी मिल की प्रणालियों द्वारा नहीं होता और न कभी ये उनमे निर्देशनात्मक रूप में (demonstratively) स्थापित होती है। मगर, ये प्रणालियाँ, कारण संबंधी प्राक प्राक्कल्पना का प्रेक्षण अथवा प्रयोग द्वारा समर्थन अथवा असमर्थन करने के मूल तार्किक ढांचे प्रस्तुत करती हैं।''

प्रश्न

निम्नलिखित युक्तियों का स्पष्ट विवेचन करते हुए, यह स्पष्ट करें कि इनका निष्कर्ष किस आगमनात्मक प्रणाली पर आधारित है?निष्कर्ष की प्रामाणिकता की समीक्षा करे।

(1) जो व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से बहुत योग्य होते हैं, उनका लेख खराब होता है। इसके विपरीत जिनका लेख बहुत अच्छा होता है, वे बहुत कम बौद्धिक काम करते है। इस प्रकार, यह निष्कर्ष निकलता है कि अत्यधिक मानसिक कार्य लेख के खराब होने का कारण होता है।

(2) वायु युक्त एक बर्तन में पैसा और पंख साथ–साथ डालने पर पैसा पंख से जल्दी गिरता है, जबकि उसे निर्वात करने पर दोनों साथ–साथ गिरते हैं। इसलिए, वायु पंख के धीरे–धीरे गिरने का कारण है।

(3) पशुओं के गिल्टी रोग के बचाव के लिए एन्थ्रेक्स का टीका लगाने की अपनी प्राक्कल्पना के समर्थन में पाश्चर ने 1881 की बसन्त ऋतु में पशु चिकित्सकों के सामने एक प्रयोग किया। उसने 24 भेड़ो, एक बकरी और पाँच अन्य पशुओं को एन्थ्रेक्स का टीका लगाया और 24 भेड़ एक बकरी और पाँच अन्य पशु बिना टीका लगाये इस झुण्ड में शामिल कर दिये। इसके बाद इन सब पशुओं पर एन्थ्रेक्स के खटमलों का भयानक आक्रमण हुआ। लेकिन, इनमें से वे पशु जिनको टीके लगे थे बच गये और जिनको टीके नहीं लगे थे व सब मर गये। इस प्रयोग से पाश्चर ने यह प्रमाणित किया कि एन्थ्रेक्स का टीका एन्थ्रेक्स रोग के बचाव का कारण है।

(4) एक विद्यार्थी चालीस पंक्तियों की एक कविता को दो भागों में बाँटता है यह 20 पंक्तियों के एक–एक टुकड़े को समग्र – विधि से याद करता है और दूसरे टुकड़े को खण्ड–विधि से याद करता है। वह देखता है कि समग्र विधि से कम समय लगा है। इस प्रकार वह निष्कर्ष निकालता है कि समग्र विधि से याद करने में समय की बचत होती है।

(5) ज्यों–ज्यों सूर्य चढ़ता जाता है त्यों–त्यों परछाई छोटी होती जाती है इसलिए, सूर्य का चढ़ना परछाई के छोटे होने का कारण है।

(6) ज्यों–ज्यों सूर्य ढ़लता जाता है त्यों–त्यों परछाई बड़ी होती जाती है इसलिए, सूर्य का ढलना परछाई के बड़े होने का कारण है।

(7) ज्यों–ज्यों क्रोध बढ़ता है, त्यों–त्यों व्यक्ति की चिन्तन शक्ति अवरूद्ध होती जाती है। इसलिए, क्रोध चिन्तन के अवरोध का कारण है।

(8) प्रायः मोटे व्यक्तियों को ह्रदय रोग अधिक होता है और पतले व्यक्तियों को कम। इसलिए, मोटापा ह्रदय रोग का कारण है।

(9) जिन व्यक्तियों को रंतौध (रात में दिखाई न देना) आता है, उनमें विटामिन ए की कमी होती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

ऐसे व्यक्तियों का रंतौध विटामिन ए की खुराक से ठीक होते हुए देखा गया है। इसलिए, विटामिन ए की कमी रतौंध का कारण है।

(10) वायु ध्वनी का कारण है क्योंकि (1) निर्वात में घण्टी बजाने पर आवाज नहीं होती (2) उसमें थोड़ी सी वायु छोड़ने पर हल्की सी आवाज सुनाई देती है, (3) अधिक वायु छोड़ने पर अधिक स्पष्ट आवाज सुनाई देती है।

(11) ज्यों–ज्यों शिक्षा बढ़ती है त्यों–त्यों अन्ध विश्वास घटते हैं। अज्ञानता अन्धविश्वासों का कारण है।

(12) इस व्यक्ति का रहन–सहन ऐसा है जैसा कि प्रति मास 2000 रूपये आय वाले व्यक्ति का हो सकता है। लेकिन इसका मासिक वेतन 500 रूपये ही है। इसलिए, इसकी आय का कोई और भी स्त्रोत है।

(13) ''निरास'' शब्द से आप क्या समझते है?निरास के मूलभूत नियम क्या है और ये किस प्रकार आगमनात्मक प्रणालियों के आधार है?

(14) ''कारण–अनेकत्व'' से आप क्या समझते है?किस प्रकार कारण अनेकत्व की सम्भावना आगमनात्मक प्रणालियों के विषय में मिल के दावों को अप्रमाणित कर देती है?
अर्थात् पर्याप्त हेतु नहीं है।

(1) मिल की आगमनात्मक प्रणालियों के अधिनियमों का स्पष्ट कथन करे। वैज्ञानिक अनुसन्धान में इन प्रणालियों के महत्व पर प्रकाश डाले।

(2) अन्वय प्रणाली के स्वरूप का उदाहरण सहित विवेचन करे। क्या इसे कारण सम्बन्ध के अन्वेषण और उपपत्ति की प्रणाली माना जा सकता है?

(3) व्यतिरेक प्रणाली के स्वरूप का विवेचन करें?इसके महत्व पर प्रकाश डाले।

(4) अन्वय प्रणाली और व्यतिरेक प्रणाली का अन्तर स्पष्ट करे और इनके तुलनात्मक महत्व पर प्रकाश डाले।

(5) सहपरिवर्तन प्रणाली और उसके महत्व पर प्रकाश डाले।

(6) अवशेष प्रणाली का स्वरूप उदाहरण सहित स्पष्ट करे। वैज्ञानिक अनुसंधान में इसका वास्तविक महत्व क्या है?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अध्याय

10

भारतीय तर्कशास्त्र

तर्क विद्या को अंग्रेजी में लॉजिक कहते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'लॉजिक' शब्द (logic) ग्रीक विशेषण लाजिके (logike) से हुई है, जो ग्रीक संज्ञा शब्द 'लोगोस' (logos) के अनुरूप है। 'लोगोस' का अर्थ विचार (Thought) है। इसे विचारों की भाषा में अभिव्यक्ति करना भी कह सकते है। (Speech) तर्क से तात्पर्य ज्ञान से अज्ञान की ओर अग्रसर होना है। तर्क एक परोक्ष ज्ञान है जो किसी प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारितहोताहै।

ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द है। प्रत्यक्ष ज्ञान को साक्षात्–ज्ञान भी कहते हैं। अनुमान और शब्द से प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाता है।

10.01 प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण

प्रत्यक्ष का अर्थ है प्रति(सम्मुख)+अक्ष(आंख या इन्द्रियां) अर्थात इन्द्रियों के सम्मुख होना। प्रत्यक्ष ज्ञान को यथार्थ कहा जाता है और उसकी प्रमाणिकता निस्संदेह मानी जाती है। कोई भी व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा प्राप्त को झूठा नहीं समझता है। प्रत्यक्ष असंदिग्ध अनुभव है और इन्द्रिय संयोग द्वारा उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए– एक व्यक्ति के नेत्र तथा वस्तु (टेबल, कुर्सी आदि) के सम्पर्क से जो असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष सदैव असंदिग्ध नहीं होता।

प्रत्यक्ष और भ्रम – रस्सी को सांप समझ लेना, यथार्थ ज्ञान तो नहीं है, परन्तु कभी – कभी व्यक्ति भ्रमवश ऐसा समझ लेता है। जब व्यक्ति रस्सी को सांप समझता है तो 'उस समय' वह अपने इस ज्ञान को असंदिग्ध समझता है।

प्रत्यक्ष और संशय – एक व्यक्ति दूर से किसी वस्तु को देखकर समझता है कि यह आदमी है या खंभा?यहाँ व्यक्ति संशय में है अतः इस ज्ञान को अंसदिग्ध और यर्थार्थ नहीं कहा जा सकता।

किसी वस्तु का ज्ञान जब बिना किसी पूर्व अनुभव या अनुमान के होता है (1) अर्थात् साक्षात्–प्रतीति के द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। जैसे दोपहर में सूर्य की उपस्थिति के ज्ञान हेतु केवल मस्तक उठाने की आवश्यकता होती है।

प्रकार –

(I) इन्द्रिय और वस्तु के संयोग के आधार पर प्रत्यक्ष के दो प्रकार होते हैं–

(1) **लौकिक प्रत्यक्ष** – जब इन्द्रिय और वस्तु का संयोग साधारण ढंग से होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है–

(अ) बाह्य – यह आँख, कान, नाक त्वचा तथा जिव्हा के द्वारा होता है। इनके द्वारा रंग, शब्द, गंध, स्पर्श और रस का ज्ञान प्राप्त होता है।

(ब) मानस – मानसिक अनुभूतियों के साथ मन के संयोग से होता है। मन अंतःइन्द्रिय है, इसके द्वारा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख–दुःख का प्रत्यक्ष होता है।

(2) **अलौकिक प्रत्यक्ष** – वह तीन प्रकार का होता है–

(अ) सामान्य – लक्षण (ब) ज्ञान – लक्षण (स) योगज

(अ) **सामान्य लक्षण** – साधारण या लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा हम मनुष्य को तो जान सकते हैं किन्तु मनुष्य जाति (मनुष्यत्व) को नहीं जान सकते। मनुष्य – जाति का ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त होता है। अर्थात् जब हम किसी व्यक्ति को देखकर उसे मनुष्य समझते है तो उसमें मनुष्यत्व

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(सामान्य – धर्म) का भी प्रत्यक्ष होता है। मनुष्यत्व को जानना जिनमें मनुष्यत्व धर्म है।

(ब) ज्ञान लक्षण – इससे एक इन्द्रिय किसी दूसरे के विषय का अनुभव कर सकता है। अतीत ज्ञान के कारण ही इस तरह का अनुभव होता है, इसे ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष कहते है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'पत्थर ठोस दिख पड़ता है' लेकिन ठोसपन को स्पर्श से जाना जा सकता है, उन्हें आँख नहीं देख सकती नैयायिकों का कहना है कि अतीत में कई बार पत्थर को देखा है इसलिए पत्थर को देखने के साथ ही ठोसपन के स्पर्श का भी अनुभव हो जाता है।

(स) योगज – इसके द्वारा भूत तथा भविष्य, गूढ़ तथा सूक्ष्म, निकट और दूर सभी प्रकार की वस्तुओं की साक्षात् अनुभूति होती है। जिन व्यक्तियों ने योगाभ्यास से अलौकिक शक्ति प्राप्त की है, वे ही ऐसी अनुभूति प्राप्त कर सकते है।

युक्त – योग में सिद्धि प्राप्त व्यक्ति को यह शक्ति अपने आप प्राप्त हो जाती है इसका कभी नाश नहीं होता।

युंजान – योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त व्यक्ति को यह शक्ति ध्यान धारणा के द्वारा प्राप्त होती है।

(II) प्रत्यक्ष ज्ञान के अविकसित या विकसित रूप के आधार पर लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद होते है।

(1) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष – यह प्रत्यक्ष का अविकसित रूप है। जिसमें किसी वस्तु के स्वरूप और धर्मों (सामान्य तथा विशेष) की प्रतीति हो जाती है। वस्तु के रूप, रंग आदि को निर्विकल्प भान होता है। यह अविकसित बीजमात्र है।

(2) सविकल्पक प्रत्यक्ष – वस्तु के जिन स्वरूप और धर्मों की प्रतीति निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में होती है, इन्हे पहले संबद्ध रूप में देखा गया है और इसी के आधार पर सविकल्पक प्रत्यक्ष (उद्देश्य विद्येय) होता है। यह प्रत्यक्ष का विकसित रूप है। प्रत्यक्ष की इन दो अवस्थाओं (निर्विकल्पक और सविकल्पक) को इसलिए मानना होता है क्योंकि पहले (निर्विकल्पक) प्रत्यक्ष द्वारा उद्देश्य और विद्येय (विशेष्य और विशेषण) को हम जानते हैं और बाद में (सविकल्पक) प्रत्यक्ष द्वारा दोनों में सम्बन्ध स्थापित करते है। उदाहरण के लिए पहले वस्तु (मनुष्य) और मनुष्यत्व को जान लेने के बाद ही ''यह मनुष्य है'' का ज्ञान संभव होता हैं।

(3) प्रत्यभिज्ञा – प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है 'पहचान'। यदि किसी व्यक्ति को देखने से साक्षात्–ज्ञान हो कि 'यही वह मनुष्य है (जिसे पहले देखा था)' तो इस ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं।

अनुमान

अनुमान 'अनु' तथा 'मान' के योग से बना है। अनु का अर्थ है 'पश्चात्' और 'मान' का अर्थ है 'ज्ञान'। वह ज्ञान जो किसी पूर्व – ज्ञान के पश्चात् आता है, वह अनुमान है।

अनुमान एक विचार – प्रणाली है जिसमें हम किसी साधन के द्वारा किसी साध्य का ज्ञान प्राप्त करते है और इन दोनों में व्याप्ति सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

उदाहरण के लिए – ''पर्वत अग्नियुक्त है, क्योंकि यह घूमयुक्त है'' यहाँ, पर्वत से उठते हुए धुँए को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वहाँ आग है, क्योंकि हमें इस बात का पहले से ही ज्ञान है कि धुआँ और आग में व्याप्ति का सम्बन्ध स्थापित है।

अवयव – किसी अनुमान में कम से कम तीन पद होंगे तथा कम से कम तीन वाक्य होगे। अनुमान द्वारा हम अप्रत्यक्ष विषय के बारे में जानते है, जिसके लिए किसी साधन की आवश्यकता होती है। साध्य तथा साधन के बीच अविच्छेद्य सम्बन्ध होना भी आवश्यक है। आग तथा धुएँ वाले उदाहरण में अनुमान के तीन भाग है। प्रथम पवर्त में धुआँ है, दूसरा धुआँ तथा आग में व्याप्ति है, तीसरा पर्वत में आग है। यहाँ पवर्त 'पक्ष' है, धुआँ **'साधन'** (हेतु) है, अग्नि **'साध्य'** (प्रतिज्ञा) है।

पक्ष – अनुमान का वह अंग जिसके सम्बन्ध में अनुमान करते है। उदाहरण – पर्वत के सम्बन्ध में ही विचार करते है कि वह अग्नियुक्त है या नहीं?

(साधन) **हेतु** – वह साधन जिसके द्वारा साध्य को पक्ष में सिद्ध करते है। उदहारण – धुआँ वह साधन है जिससे यह सिद्ध होता है कि पर्वत में अग्नि है।

साध्य – जो पक्ष के सम्बन्ध में सिद्ध किया जाता है। उदाहरण – अग्नि 'साध्य' है, अनुमान के द्वारा पर्वत

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

के सम्बन्ध में अग्नि को ही सिद्ध करना है।

अनुमान के भेद

अनुमान में कम से कम तीन निश्चित वाक्य अवश्य होते है। अनुमान निश्चयात्मक वाक्यों से बने है। नैयायिक अनुमान को तीन प्रकार से स्पष्ट करते है।

(I) प्रयोजन भेद के आधार पर (स्वार्थ और परार्थ) अपने ज्ञान के लिए किया जाने वाला अनुमान स्वार्थानुमान कहलाता है। किसी बात को दूसरों को समझाने के लिए जब हम अनुमान करते है, तो यह परार्थ अनुमान कहलाता है।

(II) व्याप्ति के भेद के अनुसार – (1) पूर्ववत, (2)शेषवत् और गौतम के प्राचीन न्याय के अनुसार (3) सामान्यतोदृष्ट

(1) **पूर्ववत** – कार्य कारण नियम पर आधारित होने के कारण कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से कर लेते है। उदाहरण – आकाश में बादल को देखकर वर्षा का अनुमान करना।

(2) **शेषवत्** – कार्य कारण नियम पर आधारित होने के कारण वर्तमान कार्य से पहले के कारण का अनुमान करना। उदाहरण – प्रातकाल चारों ओर पानी देखकर रात में वर्षा के हो चुकने का अनुमान करना।

(3) **सामान्यतोदृष्ट** – ऐसा अनुमान जिसमें साधन पद और साध्य पद में कारण कार्य संबंध नहीं होता है अपितु दोनों सदैव एक –दूसरे के साथ पाए जाते हैं अतः एक से दूसरे का अनुमान होता है। उदाहरण – जैसे ही हम सुनते हैं कि अमुक पक्षी बगुला है वैसे ही हम अनुमान करते हैं कि वह उजला होगा।

(III) व्याप्ति को स्थापित करने की भिन्नता के आधार पर –

(1)केवलान्वयी

(2)केवल व्यतिरेकी

(3)अन्वय व्यतिरेकी

(1) **केवलान्वयी** – जब व्याप्ति की स्थापना भावात्मक उदाहरणों से होती है।

(2) **केवल व्यतिरेकी** – जब व्याप्ति की स्थापना निषेधात्मक उदाहरणों के द्वारा संभव है।

(3) **अन्वय व्यतिरेकी** – जिस अनुमान में व्याप्ति की स्थापना अन्वय और व्यतिरेक दोनों से हो।

हेत्वाभास अनुमान के साधन को जो दोषपूर्ण बनाते हैं, उन्हें हेत्वाभास कहा जाता है। चूंकि अनुमान हेतु पर ही निर्भर करता ह, अतः हेतु में कोई दोष होने पर अनुमान दूषित हो जाता है।

ये पाँच प्रकार के होते हैं–

(1) सव्यभिचार (2) विरूद्ध (3) सत्यप्रतिपक्ष (4) असिद्ध (5) बाधित

10.02 पंचावयव अनुमान एवं निर्दोष व्याप्ति

स्वार्थ और परार्थ अनुमान – यदि अनुमान अपने लिए ही हो (स्वार्थ) तो उसे क्रमबद्ध वाक्यों के रूप में प्रकट करने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब दूसरों के सम्मुख (परार्थ) किसी तथ्य को प्रदर्शित करना होता है तो अनुमान को क्रमबद्ध रूप में श्रृंखला के रूप में प्रकट करने की आवश्यकता होती है।

नैयायिकों का मानना है कि दूसरों को समझाने के लिए अनुमान को पाँच वाक्यों (अवयव) में व्यक्त करते है। इन अवयवों के नाम है– प्रतिज्ञा, हेतू, उदाहरण उपनय और निगमन।

पंचावयव अनुमान का उदाहरण –

(1) मोहन मरणशील है। (प्रतिज्ञा)

(2) क्योंकि यह मनुष्य है। (हेतु)

(3) सभी मनुष्य मरणशील है, जैसे राम, सोहन, रमेश आदि। (उदाहरण)

(4) मोहन मनुष्य है। (उपनय)

(5) अतः वह मरणशील है। (निगमन)

प्रतिज्ञा – जिस विषय पर विचार हो रहा हो, उसे पहले ही स्पष्ट कह देना।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

हेतु – प्रतिज्ञा के कारण को स्पष्ट किया जाता है।

उदाहरण – इसमें साध्य और हेतु का अविच्छिन्न सम्बन्ध उदाहरण के साथ दिखाया जाता है।

उपनय – इसमें यह दिखाया जाता है कि उदाहरण वाक्य विवेच्य विषय में भी लागू होता है।

निगमन – जो उक्त वाक्यों से सिद्ध हो जाता है।

10.2.1 व्याप्ति

हेतु और साध्य के बीच का संबंध जिससे अनुमान होता है, उसे व्याप्ति कहते है। अनुमान के लिए दो बाते आवश्यक है। प्रथम, पक्ष और हेतु का संबंध और दूसरा, हेतु और साध्य का व्याप्ति संबंध उदाहरण के लिए पर्वत में आग है इसे सिद्ध करने के लिए दो बाते आवश्यक है– प्रथम, पक्ष (पर्वत) में हेतु (धुएँ) का होना और दूसरा, हेतु (धुएँ) और साध्य (अग्नि) में व्याप्ति संबंध। हेतु और साध्य के इस व्यापक संबंध को ही व्याप्ति कहते है। इसके आधार पर ही पर्वत में आग है, को सिद्ध किया जा सकता है।

प्रकार – व्याप्ति से दो वस्तुओं के पारस्परिक संबंध का बोध होता है। जिनमें से एक व्याप्य होता है और दूसरा व्यापक ।I

(1) समव्याप्ति – जब समान विस्तार वाले दो पदों में व्याप्ति संबंध रहता है, तो उसे समव्याप्ति कहते है। इनकी व्यापकता बराबर होने के कारण एक से दूसरे का और दूसरे से पहले का अनुमान किया जा सकता है।

(2) असमव्याप्ति – कोई वस्तु दूसरी वस्तु में व्याप्त है अर्थात् वह वस्तु दूसरी वस्तु के साथ बराबर रहती है। धुएँ और अग्नि के उदाहरण में धुआँ व्याप्त है क्योंकि धुएँ के साथ आग बराबर पायी जाती है। यहाँ, सभी धूमवान पदार्थ अग्नियुक्त होते है किन्तु सभी अग्नियुक्त पदार्थ धूमवान नहीं होते।

अर्थात् दो पदों में जब इस प्रकार का विषम सम्बन्ध रहता है एक से (कम विस्तार वाले से) दूसरे का (अधिक विस्तार वाले का) अनुमान किया जा सकता है, किन्तु दूसरे से पहले का अनुमान नहीं हो सकता। इसे अयसम व्याप्ति या विषम व्याप्ति कहते है

व्याप्ति का लक्षण :– हेतु और साध्य के उस साहचर्य को व्याप्ति कहते है जो उपाधिहीन हो अर्थात् किसी विशेष अवस्था पर निर्भर नहीं हो।

10.2.2 व्याप्ति की विधियाँ

(1) **अन्वय** – जब एक वस्तु के रहने पर दूसरी भी रहती है। इसका एक भी व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। उदाहरण के लिए जहाँ–जहाँ धुआँ देखा जाता है उसके साथ आग भी देखी जाती है।

(2) **व्यतिरेक** – एक के नहीं रहने पर दूसरे का नहीं रहना, व्यतिरेक कहलाता है। अर्थात् आग के नहीं रहने से धुआँ भी नहीं पाया जाता है।

(3) **व्यभिचाराग्रह** – व्यभिचाराग्रह अर्थात् किसी व्यभिचार का नहीं होना, व्याप्ति को निश्चायक बनाता है। आज तक हमने ऐसा कोई स्थान नहीं देखा जहाँ धुआँ तो हो परन्तु अग्नि न हो।

(4) **उपाधि–निरास** – उपाधियों का निराकरण किए बिना व्याप्ति का संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। ''उपाधि वह है जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है। किन्तु साधन (हेतु) के साथ सदैव नहीं रहता है।''

उदाहरण– यदि धुएँ से अग्नि का अनुमान करे तो यह अनुमान ऐसी व्याप्ति पर निर्भर होगा तो अनौपाधिक नहीं है, ऐसा अनुमान भ्रमात्मक होगा क्योंकि यहाँ धूम साध्य है और अग्नि साधन है और आग धुँआ तभी उत्पन्न करती है जब ईंधन भीगा हो।

(5) **तर्क** – अनुभव केवल वर्तमान तक सीमित रहता है। व्याप्ति की स्थापना की उक्त विधियाँ अनुभव पर आधारित है। जब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अनुभव पर आधारित व्याप्ति भविष्य में ठीक कैसे मानी जाएगी?नैयायिक 'तर्क' के द्वारा इसका समाधान प्रस्तुत करते है। उदाहरण – 'यदि सभी धूमवान पदार्थ अग्नियुक्त है' – यह वाक्य यदि असत्य है तो उसका पूर्ण विरोधी वाक्य 'कुछ धूमवान पदार्थ अग्नियुक्त नहीं है' – अवश्य सत्य होगा। (तर्कशास्त्र का नियम है कि दो पूर्ण विरोधी वाक्य एक ही साथ असत्य नहीं हो सकते) यदि 'कुछ धूमवान पदार्थ अग्नियुक्त नहीं है' को

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सत्य मान लेने से धुएँ का अस्तित्व अग्नि के बिना भी सम्भव हो जाता है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना भी हो सकती है और इस प्रकार कार्य कारण सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है अतः सिद्ध होता है कि धुएँ और आग के बीच व्याप्ति सम्बन्ध है

(6) **सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष –** इससे व्याप्ति में पूर्ण निश्चयात्मकता आती है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष का एक भेद है। व्यक्ति के प्रत्यक्ष में उसकी जाति का प्रत्यक्ष हो जाता है। उदाहरण के लिए मनुष्य के प्रत्यक्ष में उसकी जाति (मनुष्यत्व) का प्रत्यक्ष हो जाता है। मनुष्यत्व एवं मरणशीलता में साहचर्य संबंध का प्रत्यक्ष कर हम कहते है कि 'सभी मनुष्य मरणशील है। दूसरे का (अधिक विस्तार वाले का) अनुमान किया जा सकता है। किन्तु दूसरे से पहले का अनुमान नहीं हो सकता। इसे असम व्याप्ति या विषम व्याप्ति कहते हैं।

10.03 शब्द प्रमाण

शब्दों, एवं वाक्यों से जो वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द कहते हैं। शब्द को प्रमाण तभी समझा जाता है जब इसके द्वारा यथार्थ–ज्ञान मिलता है। विश्वासयोग्य व्यक्ति (आप्त पुरूष) के वचन के अर्थ का ज्ञान शब्द प्रमाण है।

शब्द – भेद
(ज्ञातव्य विषयों के आधार पर)

दृष्टार्थ	अदृष्टार्थ
जिन शब्दों से ऐसी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, जिसका प्रत्यक्ष हो सके। उदाहरण – साधारण मनुष्य तथा महात्माओं के विश्वास योग्य वचन, धर्मग्रन्थों की वैसी उक्तियाँ जो दृष्ट पदार्थों के संबंध की हो।	जिन शब्दों से अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण – साधारण मनुष्य तथा महात्माओं के वचन जो प्रत्यक्ष के बाहर वस्तुओं के संबंध में हो, पाप–पुण्य आदि के संबंध में धर्मगुरूओं के वचन। अर्थात् वैसी उक्तियाँ जो अदृष्टार्थ–पदार्थो के संबंध की

शब्द – भेद
(शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में)

वैदिक	लौकिक
ये ईश्वर के वचन माने जाते हैं। अतः ये निर्दोष और अभ्रान्त होते हैं।	ये सभी शब्द सत्य नहीं होते, मिथ्या भी हो सकते हैं। लौकिक शब्द केवल वे ही सत्य है जो विश्वासयोग्य व्यक्तियों के वचन होते है।

वाक्य

वाक्य ऐसे पदों का समूह है जो एक विशेष ढ़ंग से क्रमबद्ध रहते हैं। पद भी ऐसे अक्षरों का समूह है जो विशेष ढंग से क्रमबद्ध रहते हैं। पद का किसी विषय के साथ एक निश्चित संबंध रहता है। शब्द अर्थ का प्रतीक है। शब्दों में अर्थ–बोध कराने की जो क्षमता है उसे शब्दों की शक्ति कहते हैं। वाक्य बोध अथवा अर्थपूर्ण वाक्यों के बोध लिए चार बातें आवश्यक हैं आंकाक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा तात्पर्य।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(1) आकांक्षा

जब तक एक पद का दूसरे पदों के साथ संबंध न स्थापित किया जाए तब तक वाक्य पूरा नहीं हो सकता है। जब कोई व्यक्ति कहता है 'लाओं', तो प्रश्न उत्पन्न होता है 'क्या'?इसे सार्थक वाक्य बनाने के लिए किसी पद की अपेक्षा रहती है, वह पद 'घड़ा' हो सकता है। 'घड़ा – लाओ' एक सार्थक वाक्य बन जाता है।

(2) योग्यता

वाक्य के पदों द्वारा जिन वस्तुओं का बोध होता है उनमें यदि कोई विरोध न हो तो इस विरोध के अभाव को योग्यता कहते है। उदाहरण के लिए 'आग से सींचो' वाक्य के पदों में योग्यता का अभाव है क्योंकि 'आग' और 'सींचना' में परस्पर विरोध है।

(3) सन्निधी

कोई वाक्य तभी अर्थ सूचक हो सकता है, जब उसके पदों में समय एवं स्थान की दृष्टि से निकटता हो। उदाहरण के लिए 'एक गाय लाओ' यदि ये एक एक कर तीन दिनों में बोले जाएं या तीन पृष्ठों पर अलग अलग लिखे जाएं तो समय और स्थान का बहुत अन्तर होने के कारण वाक्य नहीं बनता।

(4) तात्पर्य

विभिन्न स्थानों में एक ही पद के कई अर्थ हो सकते है। किसी विशेष स्थान पर क्या अर्थ होगा यह वक्ता या लेखक के अभिप्राय पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए – यदि किसी व्यक्ति को कहा जाए कि ''सैंधव लाओ'' – सैंधव का अर्थ नमक और सिंधु देश का घोड़ा दोनों है। यदि वक्ता के अभिप्राय की सहायता ले (अर्थात् यदि भोजन करते समय उक्त वाक्य कहने पर 'नमक' लाना है और युद्ध के मैदान में कहने पर 'घोडा' लाना है) तो उक्त वाक्य का सही अर्थ समझा जा सकता है।

बहुविकल्पी प्रश्न

(1) लौकिक प्रत्यक्ष का प्रकार नहीं है –
(अ) बाह्य (ब) मानस (स) प्रत्यभिज्ञा (द) सामान्य लक्षण

(2) अलौकिक प्रत्यक्ष का प्रकार नहीं है –
(अ) योगज (ब) प्रत्यभिज्ञा (स) सामान्य लक्षण (द) ज्ञान लक्षण

(3) अनुमान के अवयव है –
(अ) हेतू (ब) पक्ष (स) साध्य (द) उक्त तीनों

(4) अनुमान का भेद है –
(अ) सामान्य लक्षण (ब) सामान्यतोदृष्ट (स) व्यभिचाराग्रह (द) योगज

(5) अनुमान के दोष है –
(अ) बाधित (ब) असिद्ध (स) विरूद्ध (द) सभी

(6) स्वार्थानुमान के अवयवों की संख्या होती है –
(अ) चार (ब) पाँच (स) तीन (द) दो

(7) व्याप्ति की विधियाँ हैं –
(अ) उपाधि–निरास (ब) व्यभिचाराग्रह (स) व्यतिरेक (द) तीनों

(8) वाक्य बोध का कारण नहीं है–
(अ) योग्यता (ब) तात्पर्य (स) सन्निधि (द) अन्वय

(9) प्रत्यक्ष में शामिल है–
(अ) यथार्थता (ब) असंदिग्धता (स) अनुभव (द) तीनों

(10) (अतीत ज्ञान के कारण) वर्तमान में जब एक इन्द्रिय दूसरे के विषय का अनुभव करता है, यह कहलाता है–
(अ) प्रत्यभिज्ञा (ब) योगजप्रत्यक्ष
(स) सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष (द) ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(11) पंचावयव अनुमान का अंग नहीं है–
(अ) उपनय (ब) निगमन (स) उदाहरण (द) पक्ष

(12) स्वार्थानुमान का अंग है–
(अ) साध्य (ब) पक्ष (स) हेतु (द) तीनों

(13) शब्द प्रमाण है–
(अ) आप्त वचन (ब) ईश्वर वचन
(स) धर्मग्रन्थों की उक्तियाँ (द) तीनों

(14) वाक्य बोध का कारण है–
(अ) आकांक्षा (ब) तात्पर्य (स) सन्निधि (द) तीनों

(15) योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त व्यक्ति कहलाता है–
(अ) ऋषि (ब) युवन्त (स) आप्त पुरूष (द) युंजान

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) भारतीय तर्कशास्त्र के अनुसार कितने प्रमाण हैं?
(2) इन्द्रिय–वस्तु संयोग के आधार पर प्रत्यक्ष के प्रकार कितने हैं?
(3) लौकिक प्रत्यक्ष के प्रकार बताइये?(इन्द्रिय तथा वस्तु के संयोग के आधार पर)
(4) अलौकिक प्रत्यक्ष के भेद कितने होते हैं?
(5) लौकिक प्रत्यक्ष के भेद बताइये?(प्रत्यक्ष ज्ञान के विकसित और अविकसित रूप के आधार पर)
(6) योग में सिद्धि प्राप्त व्यक्ति, जिसकी शक्तियों का कभी नाश नहीं होता, कहलाता है?
(7) 'यही वह मनुष्य है (जिसे पहले देखा था)' कौनसा प्रत्यक्ष है?
(8) अनुमान का शाब्दिक अर्थ है?
(9) अनुमान के अवयव हैं?
(10) प्रयोजन भेद के आधार पर अनुमान के प्रकार है?
(11) व्याप्ति भेद के आधार पर अनुमान के प्रकार कितने हैं?
(12) अनुमान के दोष कितने हैं?
(13) अनुमान के दोष किसे कहते हैं?
(14) वाक्य बोध के कितने कारण हैं?
(15) शब्द प्रमाण के कितने प्रकार हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) प्रत्यक्ष और भ्रम के अन्तर को समझाइये?
(2) प्रत्यक्ष और संशय के अन्तर को समझाइये?
(3) बाह्य प्रत्यक्ष क्या है?
(4) योगज प्रत्यक्ष क्या है?
(5) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्या है?
(6) प्रत्यभिज्ञा को समझाइये।
(7) परार्थ अनुमान क्या है?
(8) अन्वय व्यतिरे की अनुमान है?
(9) समव्याप्ति क्या है?
(10) व्यभिचाराग्रह क्या है?
(11) उपाधि निरास क्या है?
(12) अदृष्टार्थ शब्द क्या है?
(13) लौकिक शब्द क्या है?
(14) आंकाक्षा किसे कहते हैं?
(15) तात्पर्य किसे कहते हैं?

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) प्रत्यक्ष क्या है?लौकिक प्रत्यक्ष के प्रकारों को विस्तार से समझाइये।
(2) अनुमान क्या है?अनुमान के प्रकारों की सविस्तार व्याख्या कीजिये।
(3) व्याप्ति क्या है?निर्दोष व्याप्ति किसे कहते है?व्याप्ति की विभिन्न विधियों को समझाइये।
(4) शब्द प्रमाण के भेदों को स्पष्ट कीजिये। वाक्य–बोध के चार कारण कौन–कौन से हैं?समझाइये।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

संदर्भ एवं सहायक ग्रन्थ

पाठ्यक्रम निर्माण के लिये निम्न संदर्भ एवं सहायक ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार कुछ सामग्री एवं सहायता ली गयी है। अतः आवश्यकतानुसार ली गयी सामग्री का सर्वाधिकार संदर्भ एवं सहायक ग्रन्थों के लेखक/प्रकाशक का ही है।

1. संगमलाल पाण्डेय
   नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण
   सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहबाद।

2. वेद प्रकाश वर्मा
   नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त
   ऐलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

3. डॉ. बांकेलाल शर्मा
   तर्कशास्त्र प्रवेश
   हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़।

4. श्री सतीशचन्द्र चटोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त
   भारतीय दर्शन
   पुस्तक भंडार, पटना।

5. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
   भारतीय दर्शन की रूपरेखा
   मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली।

6. अशोक कुमार वर्मा
   सरल निगमन तर्कशास्त्र
   (पाश्चात्य और भारतीय)
   मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली।

7. डॉ. हृदय नारायण मिश्र एवं डॉ. जमुना प्रसाद अवस्थी
   नीतिशास्त्र की भूमिका
   हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़।

8. इरविंग एम. कापी
   तर्कशास्त्र का परिचय
   (अनुवादक – संगमलाल पाण्डेय एवं गोरखनाथ मिश्र)
   एशिया बुक कम्पनी, युनिवर्सिटी रोड़, इलाहबाद।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

9. प्रो. नित्यानन्द मिश्र
नीतिशास्त्र
(सिद्धान्त तथा प्रयोग)
मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली।

10. अशोक कुमार वर्मा
सरल आगमन तर्कशास्त्र
(पाश्चात्य और भारतीय)
मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली।

11. एस. एन. दासगुप्ता
भारतीय दर्शन का इतिहास
(भाग 1 से 5)
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

12. अशोक कुमार वर्मा
नीतिशास्त्र की रूपरेखा
(पाश्चात्य और भारतीय)
मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली।

13. Irving M. Copi and Carl Cohen
Introduction to LOGIC
(EIGHTH EDITION)
Macmillan Publishing Company, New York.

14. Dr. Jadunath Sinha
A Manual of ETHICS
The Central Book Agency, 14 Bankim Chatterjee Street, Calcutta.

Downloaded from https:// www.studiestoday.com